

Chapter चौदह

भौतिक संसार भोग का एक विकट वन

इस अध्याय में भवाटवी (भौतिक जगत रूपी वन) का अर्थ स्पष्ट किया गया है। कभी-कभी वणिकजन अनेक दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह करने और उन्हें लाभ सहित नगर में बेचने के लिए वन (अटवी) में प्रवेश करते हैं, किन्तु वन मार्ग सदैव ही संकटों से घिरे रहते हैं। जब शुद्ध जीव प्रभु की

सेवा त्याग कर भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, तो श्रीकृष्ण उसे उस भौतिक जगत में प्रवेश करने का अवसर अवश्य प्रदान करते हैं। *प्रेम विवर्त* में कहा गया है— *कृष्ण बहिर्मुख हजा भोग वांछा करे*। इसी कारण शुद्ध जीवात्मा भौतिक जगत में गिर जाता है। प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव में आकर जीवात्मा विभिन्न योनियों में देह धारण करता है। कभी वह स्वर्गलोक में देवता बनता है, तो कभी मर्त्यलोको में नगण्य प्राणी का रूप धारण करता है। इस सम्बन्ध में श्रील नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं— *नाना योनि सदा फिरे*—जीवात्मा अनेक योनियों में भ्रमण करता है। *कदर्य भक्षण करे*—उसे घृणित वस्तुएँ खानी और भोगनी पड़ती हैं। तारे जन्म अधः पाते याय इस प्रकार उसका सारा जीवन नष्ट हो जाता है। सर्व-दयामय वैष्णव की शरण के बिना बद्धजीव माया के चंगुल से नहीं छूट पाता। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*) जीवात्मा अपने मन तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा भौतिक जीवन प्रारम्भ करता है और इन्हीं के बल पर वह अपने अस्तित्व के लिए इस भौतिक जगत में संघर्ष करता है। इन इन्द्रियों की तुलना वन में रहने वाले धूर्तों तथा ठगों से की गई है। वे मनुष्य का आत्म-ज्ञान हर कर उसे अज्ञानता के जाल में डाल देती हैं। इस तरह इन्द्रियाँ धूर्तों तथा ठगों के तुल्य हैं, जो उसके आत्म ज्ञान को लूट लेती हैं और इन के अतिरिक्त सारे कुटुम्बी, पत्नी तथा सन्तानें वन के खूँखार पशुओं के तुल्य हैं। इन भयानक पशुओं का काम है मनुष्यों का मांस भक्षण करना। जीवात्मा इन शृगालों तथा लोमड़ियों (पत्नी तथा सन्तान स्वरूप) को अपने ऊपर आक्रमण करने देता है और इस प्रकार उसका वास्तविक आध्यात्मिक जीवन समाप्त हो जाता है। भौतिक जीवन रूपी वन में प्रत्येक प्राणी मच्छरों की भाँति विद्वेषी है और मूषक तो निरन्तर उत्पात ही मचाते रहते हैं। इस भौतिक जगत में प्रत्येक प्राणी अनेक अप्रिय परिस्थितियों में जा पहुँचता है और ईर्ष्यालु व्यक्तियों तथा उत्पाती पशुओं से घिरा रहता है। फलस्वरूप जीवात्मा इनसे सतत लूटा जाता है और अन्य जीवात्माओं द्वारा दंशित होता रहता है। इतने व्यवधानों के बाद भी वह गृहस्थाश्रम को नहीं छोड़ना चाहता और भविष्य में सुखी रहने के प्रयास में सकाम कर्म करता रहता है। इस प्रकार वह कर्मफलों में अधिकाधिक फँसता जाता है और कुकृत्य करने के लिए बाध्य हो जाता है। उसके प्रत्यक्ष साक्षी होते हैं—दिन में सूर्य तथा रात्रि में चन्द्रमा। देवतागण भी देखते रहते हैं, किन्तु बद्धजीव सोचता है कि इन्द्रियतृप्ति के उसके सारे प्रयासों को कोई नहीं देख रहा है। अतः जब भी वह पकड़ा जाता है,

तो कुछ काल के लिए वह सब कुछ परित्याग कर देता है, किन्तु देह से अत्यधिक आसक्ति रहने के कारण सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व ही उसका यह त्याग समाप्त हो जाता है।

इस भौतिक जगत में अनेक ईष्यालु व्यक्ति हैं। कर लगाने वाले शासन की तुलना उलूक से की जा सकती है। अप्रिय झंकार करते अदृश्य झींगुर भी विद्यमान हैं। ये तब प्रकृति के दूत बनकर बद्धजीव को सताते हैं, किन्तु उसकी बुद्धि कुसंग के कारण भ्रष्ट हो जाती है। भौतिक अस्तित्व की बाधाओं से मुक्ति पाने के प्रयास में बद्धजीव नामधारी योगियों, साधुओं तथा अवतारियों के चंगुल में पड़ जाता है। जो जादू तो दिखा सकते हैं, किन्तु भक्ति को नहीं समझा पाते। कभी-कभी बद्धजीव अपना सारा धन खो देने के कारण अपने कुटुम्बीजनों से रुष्ट हो जाता है। इस भौतिक जगत में बद्धजीव को रंचमात्र भी सुख नहीं है, किन्तु वह जन्म-जन्मांतर इसी की कामना करता है। राज्य-कर्मचारी नरभक्षी असुरों की तरह हैं, जो राज्य के संरक्षण के लिए प्रचुर कर लगाते हैं। कठोर श्रम करने वाला बद्धजीव इन भारी करों से अत्यन्त दुखी रहता है।

सकाम कर्मों का मार्ग दुर्लभ्य पर्वतों की ओर ले जाता है। बद्धजीव कभी-कभी इन पर्वतों को लाँघना तो चाहता है, किन्तु वह कभी सफल नहीं हो पाता। फलतः वह अधिक संतप्त एवं निराश हो उठता है। भौतिक रूप से तथा आर्थिक रूप से संतप्त होकर बद्धजीव वृथा ही अपने परिवार को प्रताड़ित करता रहता है। भौतिक दृष्टि से चार प्रमुख आवश्यकताएँ होती हैं, जिनमें से नींद की तुलना अजगर से की गई है। नींद आने पर बद्धजीव अपने मूल अस्तित्व को पूरी तरह भूल जाता है और भौतिक जीवन की यातनाओं का अनुभव नहीं कर पाता। कभी-कभी धन की आवश्यकता होने पर बद्धजीव चोरी और ठगी करता है, भले ही वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए ऊपर-ऊपर भक्तों की संगति क्यों न करे। उसका एकमात्र व्यापार माया के चंगुल से छूटना होना चाहिए। किन्तु सही निर्देश के अभाव में वह भौतिक कार्यों में अधिकाधिक उलझता जाता है। यह भौतिक जगत मात्र उलझन है और सुख, दुख, राग, द्वेष तथा शत्रुता जैसी यातनाओं से बना हुआ है। तात्पर्य है कि यह जगत यातना एवं दुख से परिपूर्ण है। जब व्यक्ति पत्नी में आसक्ति और कामाचार में लिप्त रहने के कारण ज्ञान खो देता है, तो उसकी समग्र चेतना दूषित हो जाती है। वह केवल स्त्री-संग की बातें सोचता रहता है। काल तो सर्प के समान प्रत्येक प्राणी का प्राण लेता है चाहे वह ब्रह्मा हों या एक नन्हीं चींटी। कभी-

कभी बद्धजीव काल से बचना चाहता है, तो वह किसी नकली मुक्तिदाता की शरण लेता है जो दुर्दैववश स्वयं की रक्षा नहीं कर सकता। तो फिर वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकता है? ऐसे नकली मुक्तिदाता योग्य ब्राह्मणों तथा वैदिक साधनों से प्राप्त प्रामाणिक ज्ञान की परवाह नहीं करते। वे व्यभिचार में लिप्त रहते हैं और विधवाओं तक को संभोग करने की छूट देने की संस्तुति करते हैं। इस प्रकार वे वन के वानरों के तुल्य हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित को विस्तारपूर्वक भौतिक वन (भवाटवी) तथा इसके दुर्गम पथ के विषय में समझाते हैं।

स होवाच

स एष देहात्ममानिनां

सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पितकुशलाकुशलसमवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोगसंयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन्दुर्गाध्ववदसुगमेऽध्वन्यापतित ईश्वरस्य भगवतो विष्णोर्वशवर्तिन्या मायया जीवलोकोऽयं यथा वणिक्सार्थोऽर्थपरः स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभवः श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तत्तापोपशमनीं हरिगुरुचरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सः—स्वरूपसिद्ध भक्त (श्रीशुकदेव गोस्वामी) ने; ह—निस्संदेह; उवाच—कहा; सः—वह (बद्ध-आत्मा); एषः—यह; देह-आत्म-मानिनाम्—अज्ञानवश देह को अपना मानने वाले व्यक्तियों का; सत्त्व-आदि—सत्त्व, रज तथा तम के; गुण—गुणों के द्वारा; विशेष—विशेष; विकल्पित—अज्ञानवश कल्पित; कुशल—कभी-कभी अनुकूल कर्मों द्वारा; अकुशल—कभी-कभी प्रतिकूल कर्मों के द्वारा; समवहार—दोनों के मिश्रण द्वारा, समवहार से; विनिर्मित—प्राप्त; विविध—नाना प्रकार के; देह-आवलिभिः—देहों की शृंखला के द्वारा; वियोग-संयोग-आदि—एक प्रकार के देह का त्याग (वियोग) तथा अन्य की स्वीकृति (संयोग) द्वारा; अनादि-संसार-अनुभवस्य—देहान्तर की अनादि प्रक्रिया की प्रतीति का; द्वार-भूतेन—द्वारों के रूप में विद्यमान होकर; षट्-इन्द्रिय-वर्गेण—इन छः इन्द्रियों (मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों आँख, कान, जीभ, नाक तथा त्वचा) द्वारा; तस्मिन्—उस पर; दुर्ग-अध्व-वत्—दुर्लभ पथ की भाँति; असुगमे—पार करने में सुगम न होने से; अध्वनि—वन के पथ पर; आपतितः—पड़ कर; ईश्वरस्य—नियन्ता का; भगवतः—श्रीभगवान्; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; वश-वर्तिन्या—वश में रहकर कर्म करते हुए; मायया—माया द्वारा; जीव-लोकः—बद्ध जीवात्मा; अयम्—यह; यथा—जैसे; वणिक्—व्यापारी, बनिया; स-अर्थः—उद्देश्य सहित, सोद्देश्य; अर्थ-परः—धन में आसक्त; स्व-देह-निष्पादित—अपने देह से किया गया; कर्म—कार्यों का फल; अनुभवः—जो अनुभव करता है; श्मशान-वत् अशिवतमायाम्—अशुभ श्मशान भूमि के सदृश; संसार-अटव्याम्—भौतिक जीवन के वन में; गतः—प्रवेश करने पर; न—नहीं; अद्य अपि—अब तक; विफल—असफल; बहु-प्रतियोग—अनेक विघ्नों तथा दुखों से पूर्ण; ईहः—इस भौतिक जगत में जिनके कार्य; तत्-ताप-उपश-मनीम्—भौतिक जीवन रूपी वन के दुखों को शान्त करने वाला; हरि-गुरु-चरण-अरविन्द—प्रभु तथा भक्तों के चरणारविन्द में; मधुकर-अनुपदवीम्—भ्रमर सदृश अनुरक्त भक्तों के अनुगमन का पथ; अवरुन्धे—प्राप्त।

राजा परीक्षित ने जब श्रीशुकदेव गोस्वामी से भौतिक वन का अर्थ स्पष्ट करने के लिए कहा तो उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया—हे राजन्, वणिक् की रुचि सदैव धन उपार्जन के प्रति रहती है। कभी-कभी वह लकड़ी तथा मिट्टी जैसी कुछ अल्पमूल्य की वस्तुएँ प्राप्त करने और उन्हें ले जाकर नगर में अच्छे मूल्य में विक्रय करने की आकांक्षा से वन में प्रवेश करता है। इसी प्रकार

बद्धजीव लोभवश कुछ भौतिक सुख-लाभ करने की इच्छा से इस भौतिक जगत में प्रवेश करता है। धीरे-धीरे वह वन के सघन भाग में प्रवेश करता है तथा वह यह नहीं जानता कि बाहर कैसे निकले। इस भौतिक जगत में प्रवेश करके शुद्ध जीव सांसारिकता में बँध जाता है, जो भगवान् विष्णु के नियंत्रण में उनकी बहिरंगा शक्ति (माया) उत्पन्न करती है। इस प्रकार जीवात्मा बहिरंगा शक्ति दैवी माया के वशीभूत हो जाता है। स्वतंत्र होने तथा वन में भटकने के कारण वह भगवान् की सेवा में सदैव तत्पर रहने वाले भक्तों का संग प्राप्त नहीं कर पाता। एक बार देहात्मबुद्धि के कारण वह माया के वशीभूत होकर और भौतिक गुणों (सत्त्व, रज् तथा तम्) के द्वारा प्रेरित होकर एक के पश्चात् एक अनेक प्रकार के शरीर धारण करता है। इस प्रकार बद्धजीव कभी स्वर्गलोक तो कभी भूलोक और कभी पाताललोक तथा निम्न योनियों में प्रवेश करता है। इस प्रकार अनेक देहों के कारण वह निरन्तर कष्ट सहन करता है। ये कष्ट तथा पीड़ाएँ कभी-कभी मिश्रित रहती हैं। कभी तो ये असह्य होती हैं, तो कभी नहीं। ये शारीरिक दशाएँ बद्धजीव को मनोकल्पना के कारण प्राप्त होती हैं। वह अपने मन तथा पंचेन्द्रियों का उपयोग ज्ञान-प्राप्ति के लिए करता है और इन्हीं से विभिन्न देहें तथा विभिन्न दशाएँ प्राप्त होती हैं। बहिरंगा शक्ति माया के नियंत्रण में इन इन्द्रियों का उपभोग करके जीव को दुख उठाना पड़ता है। वह वास्तव में छुटकारा पाने की खोज में रहता है, किन्तु सामान्य रूप से वह भटकता है, यद्यपि कभी-कभी अत्यन्त कठिनाई के पश्चात् उसे छुटकारा मिल जाता है। इस प्रकार अस्तित्व के लिए संघर्षशील रहने के कारण उसे भगवान् विष्णु के चरणारविन्दों में भ्रमरों के समान अनुरक्त भक्तों की शरण नहीं मिल पाती है।

तात्पर्य : इस श्लोक में सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना है, *हरि-गुरु-चरण-अरविन्द-मधुकर-अनुपदवीम्*—इस भौतिक जगत में बद्धजीव स्व-कर्मवश भटकता रहता है और कभी-कभी अत्यन्त कठिनाई के पश्चात् इससे छूट पाता है। तात्पर्य यह है कि जीव कभी सुखी नहीं रहता। वह अपने अस्तित्व के लिए मात्र संघर्ष करता है। वास्तव में उसका एकमात्र प्रयोजन गुरु को स्वीकार करना और उनकी शरण में जाकर उन्हीं के माध्यम से श्रीभगवान् के चरणारविन्द को स्वीकार करना है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*। इस भौतिक

जगत रूपी वन या नगर में अस्तित्व के लिए संघर्ष करने वाले प्राणी वास्तव में सुखी नहीं हैं। वे मात्र विविध पीड़ाओं एवं इच्छाओं का भोग कर रहे हैं—सामान्यतः ऐसी पीड़ाएँ जो अशुभ हैं। वे इन दुखों से मुक्ति पाना चाहते हैं, किन्तु अज्ञानवश वे ऐसा नहीं कर पाते। उनके लिए तो वेदों में कहा गया है—
तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्। जब अस्तित्व के लिए संघर्ष में इस भौतिक जगत रूपी वन में जीव भटक जाता है, तो उसका प्रथम कार्य होता है ऐसा प्रामाणिक गुरु खोज निकालना जो भगवान् विष्णु के चरणकमलों में निरन्तर अनुरक्त रहता हो। तात्पर्य यह कि यदि वह अस्तित्व के लिए संघर्ष से छुटकारे का इच्छुक होता है, तो उसे चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु खोजे और उसके चरणकमल में रहकर शिक्षा प्राप्त करे। इस प्रकार वह उस संघर्ष से बाहर निकल सकता है।

चूँकि भौतिक जगत की तुलना वन से की गयी है। अतः यह तर्क किया जा सकता है कि कलियुग में आधुनिक सभ्यता मुख्यतः नगरों में ही स्थित है। किन्तु एक बड़ा नगर विशाल वन के तुल्य है। सच तो यह है कि नगर का जीवन वन में रहने की अपेक्षा अधिक घातक है। यदि कोई व्यक्ति बिना किसी मित्र और आश्रय के किसी नगर में प्रवेश करता है, तो उसके लिए उस नगर में निवास करना वन में रहने से भी अधिक कठिन है। इस पृथ्वी पर अनेक बड़े-बड़े नगर हैं और जहाँ भी दृष्टि जाती है अहर्निश जीवन-संघर्ष छिड़ा दिखता है। लोग ७०-८० मील की गति से मोटरकारों में इधर-उधर दौड़ते रहते हैं, जो जीवन-संघर्ष का दृश्य उपस्थित करता है। उन्हें भोर में शीघ्र उठकर मोटर में द्रुतगति से यात्रा करनी होती है। इससे सतत दुर्घटना का भय बना रहता है और काफी सावधानी बरतनी पड़ती है। अपने वाहन में भी मनुष्य अनेकानेक दुश्चिन्ताओं से घिरा रहता है तथा उसका संघर्ष कदापि मंगलकारी नहीं होता। मनुष्य के अतिरिक्त बिल्लियों तथा कुत्तों जैसी योनियाँ भी अपने अस्तित्व के लिए अहर्निश कठिन संघर्ष करती हैं; इस प्रकार जीवन-संघर्ष चलता रहता है और यह बद्धजीव एक स्थिति से दूसरी स्थिति को प्राप्त होता है। अल्पकाल के लिए वह शिशु रहता है, तत्पश्चात् वह बालक में बदल जाता है; बालक से युवा और युवा से पुरुष और फिर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। अन्त में जब यह शरीर कार्य करने में अक्षम हो जाता है, तो इसे अन्य योनियों में स्वीकार करना पड़ता है। एक शरीर का त्याग करना मृत्यु कहलाती है और दूसरे शरीर को ग्रहण करना जन्म है। मानव शरीर धारण करने का यही लाभ है कि वह प्रामाणिक गुरु की शरण ले करके उनके

माध्यम से श्रीभगवान् को प्राप्त करे। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के सदस्यों को, जो मूर्ख प्रचारकों द्वारा मार्ग से भ्रमित किये जाते हैं, उनको अवसर प्रदान करने के लिए चलाया गया है। कोई भी प्राणी अस्तित्व के इस जीवन-संघर्ष से, जो कष्टों से परिपूर्ण है, तब तक छुटकारा नहीं पा सकता जब तक कि वह श्रीभगवान् के शुद्ध भक्त की शरण न ले। भौतिक प्रयास तो एक स्थिति से दूसरी में बदलते हैं, किन्तु वास्तव में किसी को इस जीवन-संघर्ष से छुटकारा नहीं मिल पाता। इसका एकमात्र उपाय प्रामाणिक गुरु के चरणकमल और उनके द्वारा श्रीभगवान् के चरणकमलों की शरण है।

यस्यामु ह वा एते षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते; तद्यथा पुरुषस्य धनं यत्किञ्चिद्भूमौपयिकं बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात्परमपुरुषाराधनलक्षणो योऽसौ धर्मस्तं तु साम्पराय उदाहरन्ति; तद्धर्म्यं धनं दर्शनस्पर्शनश्रवणास्वादानावघ्राणसङ्कल्पव्यवसायगृहग्राम्योपभोगेन कुनाथस्याजितात्मनो यथा सार्थस्य विलुम्पन्ति. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—जिसमें; उ ह—निश्चय ही; वा—अथवा; एते—ये सब; षट्-इन्द्रिय-नामानः—जो छः इन्द्रियाँ (मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) कहलाती हैं; कर्मणा—अपने कर्म के द्वारा; दस्यवः—दस्यु (लुटेरे); एव—निश्चय ही; ते—वे; तत्—वह; यथा—जिस प्रकार; पुरुषस्य—व्यक्ति का; धनम्—धन; यत्—जो भी; किञ्चित्—थोड़ा; धर्म-औपयिकम्—धार्मिक सिद्धान्तों का साधन; बहु-कृच्छ्र-अधिगतम्—अतीव श्रम से उपार्जित; साक्षात्—प्रत्यक्ष; परम-पुरुष-आराधन-लक्षणः—यज्ञ इत्यादि के द्वारा भगवान् की पूजा करना जिनके लक्षण हैं; यः—जो; असौ—वह; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त (मर्यादा); तम्—उसको; तु—किन्तु; साम्पराये—मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा के लाभार्थ; उदाहरन्ति—बुद्धिमान घोषित करते हैं; तत्-धर्म्यम्—धार्मिक (वर्णाश्रम धर्म के पालन से सम्बन्धित); धनम्—धन; दर्शन—दर्शन द्वारा; स्पर्शन—स्पर्श द्वारा; श्रवण—श्रवण द्वारा; आस्वादन—स्वाद के द्वारा; अवघ्राण—सूँघकर; सङ्कल्प—निश्चय द्वारा; व्यवसाय—निष्कर्ष रूप में; गृह—घर में; ग्राम्य-उपभोगेन—भौतिक उपभोग द्वारा; कुनाथस्य—भ्रमित बद्ध जीवात्मा का; अजित-आत्मनः—जिसने अपने पर विजय प्राप्त नहीं की; यथा—जैसे; सार्थस्य—इन्द्रियों की तृप्ति में रुचि रखने वाले जीवात्मा का; विलुम्पन्ति—लूट लेते हैं।

संसार रूपी वन में अनियंत्रित इन्द्रियाँ दस्युओं के समान हैं। बद्धजीव श्रीकृष्णभावनामृत के विकास के लिए कुछ धन अर्जित कर सकता है, किन्तु दुर्भाग्यवश अनियंत्रित इन्द्रियाँ अपनी तुष्टि द्वारा इस धन को लूट लेती हैं; इन्द्रियाँ दस्यु हैं, क्योंकि वे जीव को दर्शन, घ्राण, आस्वाद, स्पर्श, श्रवण, संकल्प-विकल्प तथा कामना में अपना धन व्यर्थ व्यय करने के लिए बाध्य करती हैं। इस प्रकार बद्धजीव अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए बाध्य हो जाता है, जिससे उसका सारा धन व्यय हो जाता है। यद्यपि यह धन यथार्थतः धार्मिक कृत्यों के सम्पादन हेतु अर्जित हुआ होता है, किन्तु दस्यु-इन्द्रियाँ इसका हरण कर लेती हैं।

तात्पर्य : पूर्वजन्मार्जिता विद्या पूर्वजन्मार्जितं धनं अग्रे धावति धावति। वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करने पर मनुष्य को भौतिक जगत में उच्चतर पद प्राप्त होता है। वह धनी, विद्वान, सुन्दर या

उच्चकुलीन हो सकता है। जिस किसी व्यक्ति के पास ये सभी सम्पत्तियाँ होती हैं उसे यह समझना चाहिए कि ये कृष्णभावनामृत के विकास के निमित्त हैं। दुर्भाग्यवश मार्ग से भ्रमित व्यक्ति अपने उच्च पद का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है। फलतः अनियंत्रित इन्द्रियों को लुटेरों की संज्ञा दी जाती है। धार्मिक कृत्यों को करने से मनुष्य को जो उच्च स्थान प्राप्त होता है, वह लुटेरी इन्द्रियों द्वारा विनष्ट कर दिया जाता है। वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करते हुए मनुष्य को सुविधाजनक पद प्राप्त होता है। वह अपनी सम्पत्ति का उपयोग सरलतापूर्वक कृष्णभावनामृत के विकास में कर सकता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि इस भौतिक जगत में जो धन तथा अवसर प्राप्त होता है उसे इन्द्रियतृप्ति में नष्ट न किया जाये। वे कृष्णभावनामृत की उन्नति के लिए हैं। यह कृष्णभावनामृत अभियान एक सुनिश्चित विधि के द्वारा व्यक्तियों को मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों पर संयम करना सिखाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह थोड़ी तत्पस्या करे और भक्ति के नियमित जीवन के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर धन को व्यय न करे। इन्द्रियाँ चाहती हैं कि सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ देखी जाँएँ, फलतः मन्दिर में श्री-विग्रह की सज्जा पर धन व्यय किया जाये। इसी प्रकार जिह्वा (जीभ) केवल अच्छे भोजन का आस्वादन करना चाहता है जो खरीद कर जिसे श्रीमूर्ति को समर्पित किया गया हो। नाक का उपयोग श्री-विग्रह को समर्पित पुष्पों को सूँघने में तथा कानों का उपयोग हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन सुनने में किया जा सकता है। इस विधि से इन्द्रियों का नियमन एवं सदुपयोग कृष्णभावनामृत के विकास में किया जा सकता है। इस प्रकार अपने उत्तम पद को सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति—यथा अवैध यौन सम्बन्ध, मांस भक्षण, मादक द्रव्यों के सेवन तथा जुआ—के लिए विनष्ट नहीं होने दिया जाएगा। इस भौतिक जगत में मोटरकार चलाकर, रात्रि-क्लबों में समय नष्ट कर या जलपान गृहों में घृणित भोजन का स्वाद लेकर मनुष्य अपने वैभवशाली पद को खो देता है। इस प्रकार लुटेरी इन्द्रियाँ बद्धजीव द्वारा अत्यन्त श्रम से संचित सम्पत्ति को लूट लेती हैं।

अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकसृगाला एवानिच्छतोऽपि कदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपि हरन्ति. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; च—भी; यत्र—जिसमें; कौटुम्बिकाः—कुटुम्बी जन; दार-अपत्य-आदयः—स्त्री तथा सन्तान इत्यादि; नाम्ना—केवल नाम के द्वारा; कर्मणा—अपने आचरण के द्वारा; वृक-सृगालाः—भेड़िया तथा शृगाल; एव—निश्चित रूप से;

अनिच्छतः—ऐसा मनुष्य जो अपने धन को व्यय करने का अनिच्छुक है; अपि—निश्चय ही; कदर्यस्य—अत्यन्त कृपण प्राणी, कंजूस का; कुटुम्बिनः—परिवार के प्राणियों से घिरा हुआ; उरणक-वत्—मेमने की भाँति; संरक्ष्यमाणम्—यद्यपि सुरक्षित है; मिषतः—जो देख रहा है; अपि—भी, ही; हरन्ति—बलपूर्वक छीन लेते हैं।

हे राजन्, इस भौतिक जगत में स्त्री-पुत्रादि नाम से पुकारे जाने वाले कुटुम्बीजन वास्तव में भेड़ियों तथा शृगालों की भाँति व्यवहार करते हैं। चरवाहा अपनी भेड़ों की रक्षा यथाशक्ति करना चाहता है, किन्तु भेड़िये तथा लोमड़ियाँ उन्हें बलपूर्वक उठा ले जाते हैं। इसी प्रकार यद्यपि कंजूस पुरुष सतर्कतापूर्वक अपने धन की चौकसी रखना चाहता है, किन्तु उसके पारिवारिक प्राणी उसकी समस्त सम्पत्तियों को उसके जागरूक रहते हुए भी बलपूर्वक छीन लेते हैं।

तात्पर्य : हिन्दी के किसी कवि ने कहा है—दिन को डाकिनी रात को बाघिनी पलक पलक लहु चूसे। पत्नी दिन में जादूगरिनी के तुल्य और रात्रि में बाघिनी की तरह होती है। उसका एकमात्र कार्य होता है दिन-रात अपने पति के खून को चूसना। दिन भर पति द्वारा खून-पसीना एक करके अर्जित धन गृहस्थी के खर्चों में चला जाता है। रात्रि में यौन सुख के कारण, पति वीर्य रूप में अपना रक्तपात करता है। इस प्रकार उसका रक्त अपनी पत्नी द्वारा अहर्निश चूसा जाता है, किन्तु वह इतना पगलाया रहता है कि वह उसका बहुत अच्छी तरह भरण-भोषण करता है। इसी प्रकार बच्चे भी भेड़िये, शृगाल तथा लोमड़ियों के तुल्य हैं। जिस प्रकार भेड़िये, शृगाल व लोमड़ियाँ चरवाहे के सतर्क रहने पर भी मेमनों को उठा ले जाती हैं, उसी प्रकार बच्चे भी पिता का धन ले लेते हैं, यद्यपि इस धन की देख-रेख पिता स्वयं करता है। इस प्रकार कुटुम्बीजन भले ही पत्नी तथा सन्तान कहलाते हों, किन्तु वास्तव में वे हैं लुटेरे ही।

यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपनकाले गुल्मतृणवीरुद्धिर्गृहमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन्न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः. ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निश्चय ही; अनुवत्सरम्—प्रत्येक वर्ष; कृष्यमाणम्—जोती जाने पर; अपि—यद्यपि; अदग्ध-बीजम्—बिना जले हुए बीज; क्षेत्रम्—खेत; पुनः—फिर; एव—निश्चय ही; आवपन-काले—बीजों को बोते समय; गुल्म—झाड़ियों से; तृण—घास-फूस से; वीरुद्धिः—लताओं से; गृहम् इव—कुंज तुल्य; भवति—हो जाता है; एवम्—इस प्रकार; एव—निश्चय ही; गृह-आश्रमः—पारिवारिक जीवन, गृहस्थाश्रम; कर्म-क्षेत्रम्—कार्य रूप खेत, कर्मभूमि; यस्मिन्—जिसमें; न—नहीं; हि—निश्चय ही; कर्माण्युत्सीदन्ति—सकाम कर्म विलुप्त हो जाते हैं; यत्—अतः; अयम्—यह; काम-करण्डः—फलवती इच्छाएँ; एषः—यह; आवसथः—आवास, निकेतन।

कृषक प्रतिवर्ष अपने अनाज के खेत को जोतकर सारा घास-फूस निकालता रहता है, तो

भी उनके बीज उसमें पड़े रहते हैं और पूरी तरह न जल पाने के कारण खेत में बोये गये पौधों के साथ पुनः उग आते हैं। घास-फूस को जोतकर पलट देने पर भी वे सघन रूप से उगकर निकल आते हैं। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम एक कर्मक्षेत्र है। जब तक गृहस्थाश्रम भोगने की कामना पूरी तरह भस्म नहीं कर दी जाती, तब तक वह पुनः पुनः उदय होती रहती है। पात्र में बन्द कपूर को हटा लेने पर भी पात्र से सुगन्ध नहीं जाती। उसी तरह जब तक कामनाओं के बीज विनष्ट नहीं कर दिये जाते, तब तक सकाम कर्म का नाश नहीं होता।

तात्पर्य : जब तक प्राणीमात्र की कामनाएँ श्रीभगवान् की सेवा में पूर्णतः समर्पित नहीं कर दी जातीं, तब तक संन्यास लेने के बाद भी गृहस्थाश्रम की इच्छा बनी रहती है। कभी-कभी कोई- व्यक्ति हमारे समाज इस्कान में भावावेश में आकर संन्यास ग्रहण करता है, किन्तु उसकी कामना पूर्णतया विनष्ट नहीं हुई रहती है, अतः अपनी प्रतिष्ठा तथा अपने नाम को लज्जित करके भी वह पुनः गृहस्थाश्रम में चला आता है। ये उत्कट कामनाएँ तभी पूर्णतया जलकर राख हो सकती हैं जब कोई प्रभु की सेवाभक्ति में पूर्णतः संलग्न हो जाता है।

तत्र गतो दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्करमूषकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः
क्वचित्परिवर्तमानोऽस्मिन्नध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति
मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस गृहस्थ जीवन तक; गतः—जाकर; दंश—डाँस; मशक—मच्छर; सम—तुल्य; अपसदैः—निम्न वर्ग के; मनु-जैः—मनुष्यों द्वारा; शलभ—पतंगा, टिड्डी; शकुन्त—एक बड़ा शिकारी पक्षी; तस्कर—चोर; मूषक—आदिभिः—चूहों इत्यादि के द्वारा; उपरुध्यमान—सताया जाकर; बहिः-प्राणः—बाह्य प्राणवायु, जो धन आदि के रूप में होती है; क्वचित्—कभी; परिवर्तमानः—भ्रमण करते हुए; अस्मिन्—इसमें; अध्वनि—भौतिक जगत का मार्ग; अविद्या—काम—अज्ञान तथा लोभ से; कर्मभिः—एवं सकाम कर्मों के द्वारा; उपरक्त-मनसा—मन के प्रभावित हो जाने के कारण; अनुपपन्न-अर्थम्—जिसमें वांछित फल कभी प्राप्त नहीं हो पाते; नर-लोकम्—यह भौतिक जगत; गन्धर्व-नगरम्—गंधर्वों की पुरी, हवाई महल; उपपन्नम्—विद्यमान; इति—ऐसा मानते हुए; मिथ्या-दृष्टिः—जिसको दृष्टि दोष हो; अनुपश्यति—देखता है।

सांसारिक सम्पत्ति एवं वैभव में आसक्त गृहस्थाश्रम में बद्धजीव को कभी डाँस तथा मच्छर, तो कभी टिड्डी, शिकारी पक्षी व चूहे सताते हैं। फिर भी वह भौतिक जगत के पथ पर चलता रहता है। अविद्या के कारण वह लोभी बन जाता है और सकाम कर्म में लग जाता है। चूँकि उसका मन इन कार्यकलापों में रमा रहता है इसलिए उसे यह भौतिक जगत नित्य लगता है, यद्यपि यह गंधर्वनगर (हवाई महल) की भाँति अनित्य है।

तात्पर्य : नरोत्तम दास ठाकुर का गीत है—

अहंकारे मत्त हजा, निताइ-पद पासरिया

असत्येरे सत्य करि मानि

नित्यानन्द प्रभु के चरणारविन्दों को विस्मरण करने और सांसारिक धन-वैभव के कारण फूले रहने से मनुष्य इस झूठे क्षणिक भौतिक जगत को वास्तविक मान बैठता है। यही भव रोग है। यह जीवात्मा चिरन्तन और आनन्दपूर्ण है, किन्तु दुखी भौतिक अवस्थाओं के बावजूद वह अज्ञानवश इस भौतिक जगत को ही वास्तविक मान बैठता है।

तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान्विषयानुपधावति पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः. ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (इस गंधर्व नगर में); च—भी; क्वचित्—कभी-कभी; आतप-उदक-निभान्—मरुस्थल में मृगतृष्णा-जल के समान; विषयान्—इन्द्रिय सुख की वस्तुओं के; उपधावति—पीछे दौड़ता है; पान—पीने के लिए; भोजन—खाने के लिए; व्यवाय—विषयी जीवन के लिए; आदि—इत्यादि; व्यसन—लत से; लोलुपः—विषयी।

बद्धजीव कभी-कभी इस गंधर्वपुरी में खाता, पीता और स्त्री-प्रसंग करता है। अत्यधिक लगाव के कारण इन्द्रियसुखों के पीछे वह उसी प्रकार दौड़ता है जैसे मरुस्थल में मृगमरीचिका के पीछे हिरण।

तात्पर्य : जगत दो प्रकार के हैं—वैकुण्ठ जगत और भौतिक जगत। भौतिक जगत मृग-मरीचिका के तुल्य असत्य है। मरुस्थल में पशु यह सोचते हैं कि उन्हें जल दिखाई पड़ रहा है, किन्तु वह वास्तव में जल नहीं होता। इसी प्रकार जो पशुवृत्ति वाले हैं, वे भौतिक जीवन के मरुस्थल के भीतर ही शान्ति ढूँढने का प्रयास करते हैं। विभिन्न शास्त्रों में यह बारम्बार कहा गया है कि इस भौतिक संसार में कोई इन्द्रियसुख नहीं है। और यदि हम सुख के बिना रहना स्वीकार कर लें तो भी हमें ऐसा नहीं करने दिया जाता। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है कि यह भौतिक संसार न केवल दुखों से पूर्ण (दुःखालयम्) है, वरन् क्षणिक (अशाश्वतम्) भी है। यदि हम दुखों के बीच रहना भी चाहें तो प्रकृति हमें ऐसा नहीं करने देगी। यह हमें अपने शरीर को बदलकर अन्य दुःखमय स्थिति में प्रविष्ट करने के लिए बाध्य कर देगी।

क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुणनिर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर
इवोल्मुकपिशाचम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; च—भी; अशेष—अनन्त, सीमाहीन; दोष—दुर्गुणों का; निषदनम्—स्रोत; पुरीष—मल का; विशेषम्—
विशिष्ट प्रकार के; तत्-वर्ण-गुण—रजोगुण के से रंगवाला (अरुण); निर्मित-मतिः—जिसका मन उसी में रमा रहता है;
सुवर्णम्—स्वर्ण; उपादित्सति—पाने की इच्छा करते हुए; अग्नि-काम—अग्नि की इच्छा से; कातरः—दुखी; इव—सदृश;
उल्मुक-पिशाचम्—स्फुरदीप्ति (कच्छ प्रकाश) जिसे कभी भूत (अगिया बेताल) मान लिया जाता है।

कभी-कभी जीवात्मा स्वर्ण के नाम से पहचाने जाने वाले पीले मल की वांछा करके उसको पाने के लिए दौड़ता है। यह स्वर्ण भौतिक वैभव एवं ईर्ष्या का साधन है और इसके कारण जीवात्मा अवैध यौन-सम्बन्ध, द्यूत, मांसाहार तथा मादक द्रव्यों के सेवन में तत्पर होने में समर्थ होता है। रजोगुणी व्यक्ति स्वर्ण के रंग से उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार वन में जाड़े से ठिठुरता मनुष्य दलदल में दिखने वाले प्रकाश को अग्नि समझ बैठता है।

तात्पर्य : परीक्षित् महाराज ने कलि से उनका राज्य छोड़कर तुरन्त चले जाने तथा चार स्थानों—
वेश्यालय, मदिरालय, वधशाला तथा द्यूतगृह—में जाकर रहने के लिए कहा। किन्तु कलियुग ने किसी एक ऐसे स्थान दिए जाने के लिए प्रार्थना की जिसमें ये चारों सम्मिलित हों। तब महाराज परीक्षित् ने ऐसा स्थान दिया जहाँ स्वर्ण संचित होता है। स्वर्ण में पाप के चारों तत्त्व पाये जाते हैं, फलतः परमार्थ जीवन में जहाँ तक सम्भव हो स्वर्ण से बचना चाहिए। जहाँ स्वर्ण रहेगा वहाँ अवैध यौनाचार, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा मादक द्रव्य सेवन—ये चारों रहेंगे। चूँकि पश्चिमी जगत के लोगों के पास प्रचुर स्वर्ण है, अतः वे इन चारों पापों के शिकार होते हैं। स्वर्ण का रंग अत्यन्त चमकीला होने से सांसारिक प्राणी इसके पीले रंग से अत्यधिक आकर्षित होते हैं। किन्तु यह स्वर्ण वास्तव में एक प्रकार का मल ही है। जिस व्यक्ति का यकृत खराब हो जाता है उसका मल प्रायः पीला होता है। इस मल का रंग सांसारिक प्राणी को वैसा ही आकर्षक लगता है जैसे गर्मी चाहने वाले व्यक्ति को मायावी प्रकाश।

अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मोपजीवनाभिनिवेश एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततः
परिधावति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; कदाचित्—कभी-कभी; निवास—वासस्थान; पानीय—जल; द्रविण—धन; आदि—इत्यादि; अनेक—
विविध प्रकार के; आत्म-उपजीवन—जो देह तथा आत्मा को एकसाथ रखने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं; अभिनिवेशः—
पूर्णतया लीन; एतस्याम्—इस; संसार-अटव्याम्—विशाल वन के सदृश इस भौतिक जगत में; इतः ततः—इधर-उधर;
परिधावति—चारों ओर दौड़ धूप करता है।

कभी-कभी यह बद्धजीव रहने के लिए वासस्थान खोजने एवं अपने शरीर की रक्षा के लिए जल तथा धन प्राप्त करने में लगा रहता है। इन नाना प्रकार की आवश्यकताओं को जुटाने में संलग्न रहने के कारण वह सब कुछ भूल जाता है और भौतिक अस्तित्व के जंगल में निरन्तर इधर-उधर दौड़-धूप करता रहता है।

तात्पर्य : जैसाकि इसके पूर्व कहा जा चुका है निर्धन वणिक जंगल में इसलिए जाता है कि वहाँ उसे सस्ती वस्तुएँ मिल सकेंगी जिन्हें लाकर वह नगर में लाभ सहित बेचेगा। किन्तु वह अपनी देह तथा आत्मा को तुष्ट रखने में इतना लीन हो जाता है कि उसे कृष्ण से अपने पूर्व सम्बन्ध का स्मरण ही नहीं रह जाता और वह मात्र शारीरिक सुख-सुविधाओं की खोज करता है। इस प्रकार जीवात्मा की एकमात्र व्यस्तता भौतिक क्रियाकलापों में रहती है। जीवन के उद्देश्य को न जानते हुए भौतिकवादी निरन्तर भौतिकता के पीछे दौड़ता है। प्रचुर आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर लेने पर भी जीवन के उद्देश्य को न समझने के कारण उसकी कृत्रिम आवश्यकताओं में वृद्धि होती जाती है और वह अधिकाधिक उलझता जाता है। वह ऐसी मानसिक स्थिति उत्पन्न कर देता है, जिसमें उसे अधिकाधिक सुविधाओं की जरूरत रहती है। भौतिकतावादी को प्रकृति के विधि-विधानों का मर्म ज्ञात नहीं होता। जैसा कि *भगवद्गीता* (३.२७) में पुष्टि की गई है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

“सम्पूर्ण कर्म वास्तव में प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पादित होते हैं, परन्तु गुणों से मोहित जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।” कामेच्छा के कारण जीवात्मा अपने मन में यह धारणा बना लेता है कि इसका भोग करना चाहिए। इस प्रकार वह फँस कर विभिन्न देहों में प्रवेश करता है और कष्ट पाता है।

क्वचिच्च वात्यौपम्यया प्रमदयारोहमारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्न विजानाति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; च—भी; वात्या औपम्यया—बवण्डर के सदृश; प्रमदया—सुन्दर स्त्री, रमणी; आरोहम् आरोपितः—यौन सुख के लिए अंक में बिठाई गई; तत्-काल-रजसा—तत्क्षण भोगेच्छा से; रजनी-भूतः—रात्रि का अंधकार; इव—सदृश; असाधु-

मर्यादः—सत्पुरुषों के समुचित आदर से रहित; रजः—बल-अक्षः—आँखों में रजोगुण की धूल पड़ने से अंधी; अपि—भी; दिक्-देवताः—दिशाओं के देवता, यथा सूर्य तथा चन्द्र; अतिरजः—बल-मतिः—आसक्ति से पराजित बुद्धि; न विजानाति—नहीं जान पाता (कि चारों दिशाओं के देवता उसके अविवेकी यौनाचार को देखते हैं)।

कभी-कभी यह बद्ध आत्मा धूल के बवण्डर से अन्धे के समान स्त्री की सुन्दरता को देखता है जिसे प्रमाद कहा जाता है। इस प्रकार से अन्धा होकर वह सुन्दर स्त्री की गोद में जा बैठता है। उस समय उसके विवेक पर भोगेच्छा विजय पाती है। इस प्रकार वह वासना से प्रायः अन्धा हो जाता है और काम-जीवन के समस्त नियमों का उल्लंघन करने लगता है। उसे यह ज्ञान ही नहीं रह जाता कि उसके इस उल्लंघन को अनेक देवता देख रहे हैं। इस प्रकार वह भवितव्य दण्ड को देखे बिना अर्धरात्रि में अवैध यौन सुख का आनन्द लेता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.११) में कहा गया है—*धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।* यौनाचार की अनुमति केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिए दी जाती है, विषय-सुख के लिए नहीं। वंश, समाज तथा विश्व के कल्याण हेतु उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही स्त्री-प्रसंग किया जा सकता है, अन्यथा यह धार्मिक जीवन के विधि-विधानों के विपरीत है। भौतिकतावादी मनुष्य को विश्वास नहीं होता है कि प्रकृति में प्रत्येक वस्तु नियमित है और वह यह नहीं समझ पाता कि यदि वह कोई त्रुटि करता है, तो विविध देवता उसके साक्षीस्वरूप रहते हैं। प्राणी अवैध यौनाचार का आनन्द लेता है और कामान्ध होने के कारण यह सोचता है कि उसे कोई देख नहीं रहा, किन्तु श्रीभगवान् के दूत इसे अच्छी तरह देखते रहते हैं। फलस्वरूप वह प्राणी अनेक प्रकार से दण्डित होता है। आजकल इस कलियुग में अवैध यौन-सम्पर्क के कारण अनेक गर्भ रह जाते हैं और कभी-कभी तो गर्भपात भी कराये जाते हैं। इन पापमय कर्मों के साक्षी हैं श्रीभगवान् के दूत। जो पुरुष तथा स्त्री ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं, उन्हें भविष्य में प्रकृति के कठोर से कठोर नियमों के अनुसार दण्डित किया जाता है (*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*)। अवैध कामाचार कभी भी क्षमा नहीं किया जा सकता और वे जो इस कुकृत्य में लिप्त रहते हैं, उन्हें जन्म-जन्मांतर दण्डित किया जाता है। *भगवद्गीता* (१६.२०) में इसकी पुष्टि हुई है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

“हे अर्जुन! जन्म-जन्म आसुरी योनि को प्राप्त होकर वे मूढ़ मुझको कभी प्राप्त नहीं होते और

फिर सर्वाधिक अधम गति में जा गिरते हैं।”

श्रीभगवान् किसी को भी सांसारिक नियमों के विरुद्ध कर्म करने की अनुमति नहीं देते; फलतः अवैध कामाचार जन्म-जन्मांतर दण्डित है। अवैध यौनाचार से गर्भाधान होता है और इन अवांछित गर्भाधानों के फलस्वरूप गर्भपात कराया जाता है। जो इन पापों में लिप्त होता है, वह अगले जन्म में भी इसी प्रकार दण्डित होता है। इस तरह वे मनुष्य भी अगले जन्म में अपनी माता के गर्भ में प्रविष्ट होते हैं और उसी प्रकार से वध कर दिये जाते हैं। कृष्णभावनामृत के दिव्य पद पर रहकर इनसे बचा जा सकता है। इस तरह मनुष्य पापपूर्ण कर्म नहीं करता। कामुक इच्छाओं के कारण अवैध कामाचार सबसे बड़ा पाप है। जब कोई रजोगुण से युक्त होता है, तो उसे जन्म-जन्मांतर दुख भोगना पड़ता है।

क्वचित्सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिध्यानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तथैव
मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति ॥ १० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; सकृत्—एक बार; अवगत-विषय-वैतथ्यः—इन्द्रियतृप्ति पाने की निरर्थकता से सचेष्ट रहकर; स्वयम्—स्वतः; पर-अभिध्यानेन—स्वयं की देहात्म बुद्धि से; विभ्रंशित—विनष्ट; स्मृतिः—जिसकी स्मृति; तथा—उसके द्वारा; एव—निश्चय ही; मरीचि-तोय—मृगतृष्णा का जल; प्रायान्—के सदृश; तान्—उन इन्द्रियों को; एव—निश्चय ही; अभिधावति—के पीछे दौड़ता है।

बद्धजीव कभी स्वतः सांसारिक विषयों का निरर्थकता स्वीकार कर लेता है, तो कभी वह भौतिक सुखों को दुखपूर्ण मानता है। फिर भी अपनी उत्कट देहात्म-बुद्धि के कारण उसकी स्मृति विनष्ट हो जाती है और वह पुनः पुनः भौतिक सुखों के पीछे वैसे ही दौड़ता फिरता है जैसे मरुस्थल में मृगमरीत्त्विका के पीछे मृग।

तात्पर्य : भौतिक जीवन का मुख्य रोग है देहात्म-बुद्धि। भौतिक कर्म में बारम्बार भ्रमित होकर बद्धजीव अल्प काल के लिए भौतिक सुखों को नश्वर मान लेता है, किन्तु पुनः वह वैसे ही करने लगता है। भक्तों की संगति से मनुष्य भौतिक नश्वरता के प्रति आश्वस्त हो जाता है, किन्तु वह अपने कार्यकलापों को त्यागता नहीं, यद्यपि वह भगवान् के धाम लौट जाने के लिए अत्यन्त इच्छुक रहता है। ऐसी परिस्थितियों में घट-घट वासी श्रीभगवान् ऐसे भक्त की समस्त भौतिक सम्पत्ति को दयापूर्वक ले लेते हैं। जैसाकि श्रीमद्भागवत (१०.८८.८) में कहा गया है—*यस्याहम् अनुग्रहामि हरिष्ये तद् धनं शनैः*। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस भक्त पर उनकी विशेष कृपा होती है और वे देखते हैं कि वह

सांसारिक विषयों में अत्यधिक लिप्त है, तो वे उसका सर्वस्व ले लेते हैं। सब कुछ ले लिए जाने पर भक्त अपने को पराश्रित और समाज में मित्रता एवं प्यार से वंचित अनुभव करता है। वह अनुभव करता है कि उससे परिवार के सदस्य अब उसकी तनिक भी परवाह नहीं करते। अतः वह श्रीभगवान् के चरणकमलों में पूर्णरूपेण अर्पित हो जाता है। भगवान् द्वारा ऐसे भक्त पर जो उत्कट देहात्मबुद्धि के कारण अपने को पूरी तरह समर्पित नहीं कर पाता यह विशेष कृपा है। *चैतन्यचरितामृत* (मध्य २२.३९) में कहा गया है—*आमि—विज्ञ एङ् मूर्खे 'विषय' केने दिब।* भगवान् अपने ऐसे भक्त को जान लेते हैं, जो श्रीभगवान् की सेवा में तत्पर होने में संकोच करता है और जिसे इसका ज्ञान नहीं रह पाता कि वह अपना सांसारिक जीवन फिर से प्रारम्भ करे या नहीं। बारम्बार प्रयास करने और विफल होने पर अन्त में वह भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है। तब भगवान् उसका मार्गदर्शन करते हैं और वह सुख प्राप्त करते हुए अपनी समस्त भौतिक व्यस्तताओं को भूल जाता है।

क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं प्रत्यक्षं परोक्षं वा
रिपुराजकुलनिर्भत्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदयः. ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; उलूक—उल्लू का; झिल्ली—झींगुर; स्वन-वत्—अप्रिय ध्वनियों की तरह; अति-परुष—अत्यन्त कर्णपटु; रभस—धैर्य से; आटोपम्—घर्षण; प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्ष, प्रकटतः; परोक्षम्—अप्रत्यक्ष; वा—या; रिपु—शत्रुओं का; राज-कुल—शासक समुदाय का; निर्भत्सितेन—ताड़ना या दण्डदान से; अति-व्यथित—अत्यन्त दुखी; कर्ण-मूल-हृदयः—जिसके कान तथा हृदय।

कभी-कभी बद्धजीव अपने शत्रुओं तथा शासन-कर्मियों की प्रताड़ना से अत्यन्त व्यथित रहता है, जो प्रत्यक्ष रूप से कटु वचन कहते रहते हैं। उस समय उसके हृदय (मन) तथा कान अतीव व्यथित एवं विषादपूर्ण हो जाते हैं। ऐसी प्रताड़ना की तुलना उल्लूकों तथा झींगुरों की अप्रिय झंकार से की जा सकती है।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में कई प्रकार के शत्रु हैं। शासन ऐसे व्यक्तियों को, जो आयकर नहीं देते, प्रताड़ित करता है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आलोचना उसे दुखी बना देती है और कभी-कभी बद्धजीव ऐसी प्रताड़ना पर प्रतिक्रिया व्यक्त करना चाहता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वह कुछ भी कर पाने की स्थिति में नहीं होता।

स यदा दुग्धपूर्वसुकृतस्तदा

कारस्करकाकतुण्डाद्यपुण्यद्रुमलताविषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणान्जीवन्मृतान्स्वयं जीवन्प्रियमाण
उपधावति. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह बद्ध आत्मा; यदा—जब; दुग्ध—थकित, रिक्त; पूर्व—पहले का; सुकृतः—अच्छे कर्म; तदा—उस समय; कारस्कर-
काकतुण्ड-आदि—कारस्कर, काकतुण्ड आदि नामधारी.; अपुण्य-द्रुम-लता—अपवित्र वृक्ष तथा लताएँ; विष-उद-पान-
वत्—विषैले जल से युक्त कुँए के समान; उभय-अर्थ-शून्य—जो न तो इस जन्म में न अगले जन्म में सुख दे सकता है;
द्रविणान्—सम्पत्तिवान्; जीवत्-मृतान्—जीवित होकर भी जो मृतक तुल्य है; स्वयम्—वह स्वतः; जीवत्—सजीव;
प्रियमाणः—मरा हुआ, मृत; उपधावति—सांसारिक लाभ के लिए निकट आता है।

पूर्वजन्मों में पवित्र कर्मों के कारण बद्ध-आत्मा को इस जीवन में भौतिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, किन्तु इनके समाप्त हो जाने पर वह ऐसी सम्पदा तथा धन का सहारा लेता है, जो न तो इस जीवन में न ही अगले जीवन में उसके सहायक होते हैं। इसलिए वह जीवित मृत-तुल्य मनुष्यों का जिन के पास ये वस्तुएँ होती हैं, सहारा लेना चाहता है। ऐसे लोग अपवित्र वृक्षों, लताओं और विषैले कुओं के सदृश हैं।

तात्पर्य : पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के द्वारा अर्जित धन तथा वैभव का दुरुपयोग इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नहीं करना चाहिए। इन्द्रिय-तृप्ति के लिए उनका उपभोग विष-वृक्ष के फलों का आस्वाद जैसा होता है। ऐसे कर्मों से बद्धजीव न तो इस जन्म में, न ही अगले जन्म में किसी प्रकार लाभान्वित होता है। किन्तु, यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में प्रभु के चरणों में अर्पित कर देता है, तो उसे इस जन्म में तथा अगले जन्म में सुख-लाभ होगा। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो वह “वर्जित सेव” का आस्वादन करता है, जिससे वह स्वर्ग से वंचित रह जाता है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सम्पत्ति उन्हें समर्पित कर दे—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

“हे कुन्तीपुत्र! तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ भी स्वाहा करता है, जो कुछ हवन या दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर” (भगवद्गीता ९.२७)। यदि व्यक्ति कृष्ण-भक्त है, तो पूर्व पुण्यकर्मों के द्वारा प्राप्त भौतिक सम्पत्ति तथा वैभव का सदुपयोग अपने इस जन्म तथा अगले जन्म को लाभ पहुँचाने के लिए कर सकता है। उसे अपनी न्यूनतम आवश्यकता से अधिक धन नहीं रखना चाहिए और यदि उसके पास आवश्यकता से अधिक धन हो तो उसे चाहिए

कि वह इस अतिरिक्त धन को भगवान् की सेवा में अर्पित कर दे। इससे बद्ध-जीवात्मा, यह संसार तथा श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे और यही इस जीवन का उद्देश्य है।

एकदासत्प्रसङ्गान्निकृतमतिर्व्युदकस्रोतःस्खलनवदुभयतोऽपि दुःखदं पाखण्डमभियाति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एकदा—कभी-कभी; असत्-प्रसङ्गात्—अभक्तों के संसर्ग से जो वैदिक नियमों के विरुद्ध हैं और अनेक धार्मिक सम्प्रदायों को जन्म देते हैं; निकृत-मतिः—जिनकी बुद्धि इस निम्न स्तर तक पहुँच चुकी होती है कि भगवान् के अस्तित्व को नकारते हैं; व्युदक-स्रोतः—प्रचुर जल से रहित नदियों में; स्खलन-वत्—कूदने के समान; उभयतः—दोनों ओर से; अपि—यद्यपि; दुःख-दम्—दुखदायी; पाखण्डम्—निरीश्वरवादी मार्ग, पाखण्ड; अभियाति—अनुसरण करता है।

कभी-कभी इस संसार अटवी में अपने कष्टों से मुक्ति पाने के लिए बद्धजीव पाखण्डियों के सस्ते आशीर्वाद प्राप्त करता है। तब उनके सम्पर्क से उसकी मति भ्रष्ट हो जाती है। यह उथली नदी में कूदने के समान ही है। इसका परिणाम यही होता है कि उसका सिर फूटता है। इस प्रकार वह गर्मी से प्राप्त दुःखों को शान्त करने में समर्थ नहीं होता तथा दोनों ओर से उस की हानि होती है। यह दिग्भ्रमित बद्धजीव तथाकथित साधुओं एवं स्वामियों की भी शरण में जाता है जो वेदविरुद्ध उपदेश देते हैं। किन्तु इनसे उसे न तो वर्तमान में और न भविष्य में ही लाभ प्राप्त होता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार के लिए धोखेबाज अपने मार्ग बनाते रहते हैं। कुछ भौतिक लाभ के लिए इन कपटी संन्यासियों और योगियों से सस्ते आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए बद्धजीव उनकी शरण में जाता है, किन्तु उसे न तो आध्यात्मिक न ही भौतिक लाभ प्राप्त होता है। इस युग में ऐसे अनेक धूर्त हैं, जो जादू-तिलिस्म दिखा कर ठगते हैं। वे अपने अनुयायियों को चमत्कृत करने के लिए सोना तक बनाते हैं और उनके अनुयायी उन्हें देवता मान बैठते हैं। कलियुग में इस प्रकार की ठगी का बोलबाला है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने सच्चे गुरु का वर्णन इस प्रकार किया है—

संसार-दावानल-लीढ -लोक-

त्राणाय कारुण्य-घनाघनत्वम्।

प्राप्तस्य कल्याण-गुणार्णवस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम् ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसे गुरु की शरण में जाये जो इस भौतिक जगत की जलती अग्नि को

शमित कर सके। किन्तु मनुष्य चाहते हैं कि वे ठगे जायें, अतः वे जादू दिखाने वाले योगियों और स्वामियों के पास जाते हैं, किन्तु इससे भौतिक जीवन के कष्टों में कमी नहीं आती। यदि सोना बना सकना ही ईश्वर बनने का मानक हो, तो वे इस सम्पूर्ण विश्व के स्वामी श्रीकृष्ण की शरण में क्यों नहीं जाते जहाँ अनन्त स्वर्णराशि है? जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सोने का रंग स्फुर-दीप्ति या पीत मल के तुल्य है, अतः सोना बनाने वाले गुरुओं के चंगुल में न आकर जड़ भरत जैसे भक्त की शरण में जाना चाहिए। जड़ भरत ने रहूगण महाराज को ऐसी शिक्षा दी कि वे देहात्मबुद्धि से मुक्त हो गये। झूठे गुरु की शरण में जाकर कोई कभी प्रसन्न नहीं रह सकता। *श्रीमद्भागवत* (११.३.२१) में जिस प्रकार के गुरु का वर्णन है, उसे ही स्वीकारना चाहिए। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्*—जीवन में सर्वोच्च लाभ की जिज्ञासा के लिए प्रामाणिक गुरु की शरण में जाना चाहिए। ऐसे गुरु का वर्णन इस प्रकार है—*शाब्दे परे च निष्णातम्*। ऐसा गुरु न तो सोना बनाता है, न ही बातें बनाता है। वह वैदिक ज्ञान से ओतप्रोत होता है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। वह सांसारिक दोषों से सर्वथा मुक्त होता है और श्रीकृष्ण की सेवा में पूर्णतः समर्पित होता है। यदि ऐसे गुरु के चरणकमल की धूलि प्राप्त हो सके तो उसका जीवन सफल हो जाता है। अन्यथा वह इस जीवन में और अगले जीवन में भी भ्रमित होता रहता है।

यदा तु परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान्वा स खलु भक्षयति. ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—किन्तु (दुर्भाग्यवश); पर-बाधया—अन्य सबों का शोषण करते हुए भी; अन्धः—अन्धा; आत्मने—अपने स्वयं के लिए; न उपनमति—हिस्से में नहीं आता; तदा—तब; हि—निश्चय रूप से; पितृ-पुत्र—पिता या पुत्रों का; बर्हिष्मतः—तृणवत् तुच्छ; पितृ-पुत्रान्—पिता अथवा पुत्रों को; वा—अथवा; सः—वह (बद्धजीव); खलु—निस्सन्देह; भक्षयति—कष्ट पहुँचाता है।

बद्धजीव जब अन्यो का शोषण करते रहने पर भी इस भौतिक संसार में अपना निर्वाह नहीं कर पाता, तो वह अपने पिता या पुत्र का शोषण करने का प्रयास करता है और उसकी सम्पत्ति हर लेता है भले ही वे अति महत्वहीन ही क्यों न हों। यदि वह पिता, पुत्र या किसी अन्य सम्बन्धी की सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर पाता तो यह उन्हें सभी प्रकार के कष्ट देने के लिए उद्यत हो उठता है।

तात्पर्य : एक बार हमने सचमुच एक दुखी मनुष्य को अपने निर्वाह हेतु अपनी पुत्री के आभूषण चुराते हुए देखा है। एक अंग्रेजी कहावत है, “स्वार्थ अन्धा होता है।” जब बद्धजीव को किसी वस्तु

की आवश्यकता होती है, तो वह अपने सम्बन्धियों के साथ अपने रिश्ते को भी भूल जाता है और अपने पिता अथवा पुत्र तक का शोषण करता है। श्रीमद्भागवत से हमें यह भी जानकारी प्राप्त होती है कि इस कलियुग में एक सम्बन्धी अपने दूसरे सम्बन्धी को एक कौड़ी के लिए मार डालेगा। बिना भक्ति के समस्त प्राणी नरक के गर्त की ओर बढ़ते जाएँगे और एक से एक घृणित कर्म करेंगे।

क्वचिदासाद्य गृहं दाववत्प्रियार्थविधुरमसुखोदर्कं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति. ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; आसाद्य—अनुभव करके; गृहम्—गृहस्थाश्रम को; दाव-वत्—दावाग्नि तुल्य; प्रिय-अर्थ-विधुरम्—किसी लाभप्रद प्रयोजन के बिना; असुख-उदकम्—अधिकाधिक दुख ही प्रतिफलित होता है; शोक-अग्निना—शोक की अग्नि से; दह्यमानः—सन्तप्त होकर; भृशम्—अत्यधिक; निर्वेदम्—निराशा; उपगच्छति—प्राप्त करता है।

इस संसार में गृहस्थाश्रम दावाग्नि के तुल्य है। इसमें तनिक भी सुख नहीं है और मनुष्य क्रमशः अधिकाधिक दुख में उलझता जाता है। पारिवारिक जीवन में चिरन्तन सुख के लिए कुछ भी अनुकूल नहीं होता। गृहस्थाश्रम में रहने के कारण बद्धजीव पश्चात्ताप की अग्नि से संतप्त रहता है। कभी वह अपने को अभागा मानते हुए कोसता है, तो कभी वह कहता है कि पूर्व जीवन में शुभ कर्म न करने के कारण ही वह कष्ट का भागी बन रहा है।

तात्पर्य : गुर्वष्टक में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का गान है—

संसार-दावानल-लीढ, -लोक-

त्राणाय कारुण्य-घनाघनत्वम्।

यह सांसारिक जीवन सही अर्थों में दावानल के सदृश है। जंगल की यह अग्नि किसी के लगाये बिना ही लगती है। इसी प्रकार इस संसार में सभी सुखी रहना चाहते हैं, किन्तु इससे भौतिक जीवन के कष्टों की वृद्धि ही होती है। जब कभी कोई मनुष्य इस भौतिक जगत की अग्नि में फँस जाता है, तो वह अपने को धिक्कारता है, किन्तु देहात्म-बुद्धि के कारण वह चंगुल से निकल नहीं पाता और इसप्रकार अधिकाधिक कष्ट भोगता है।

क्वचित्कालविषमितराजकुलरक्षसापहतप्रियतमधनासुः प्रमृतक इव विगतजीवलक्षण आस्ते. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; काल-विष-मित—काल के द्वारा कुटिल बनाया गया; राज-कुल—शासक वर्ग; रक्षसा—राक्षसों द्वारा; अपहृत—हर लिये जाने पर; प्रिय-तम—सर्वाधिक प्रिय; धन—सम्पत्ति के रूप में; असु:—जिसकी प्राणवायु; प्रमृतक:—मृत; इव—सदृश, तुल्य; विगत-जीव-लक्षण:—जीवन के समस्त लक्षणों से शून्य; आस्ते—रह जाता है।

शासन-कर्मी सदैव नरभक्षी राक्षसों के सदृश होते हैं। ये शासन-कर्मी कभी-कभी बद्धजीव से रुष्ट हो जाते हैं और उसकी सारी संचित सम्पत्ति उठा ले जाते हैं। इस प्रकार अपने जीवन भर की संचित पूँजी को खोकर बद्धजीव हतोत्साहित हो जाता है। दरअसल, यह उसके लिए प्राणान्त के समान है।

तात्पर्य : राज-कुल-रक्षसा शब्द अत्यन्त सटीक है। श्रीमद्भागवत की रचना पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई थी। फिर भी शासन-कर्मियों को नरभक्षक अथवा राक्षस की संज्ञा प्रदान की गई है। यदि शासन-कर्मी किसी व्यक्ति के विरुद्ध हो जाते हैं, तो जीवन भर की सपरिश्रम संचित पूँजी से उसे हाथ धोना पड़ता है। वास्तविकता तो यह है कि कोई भी व्यक्ति आय-कर नहीं देना चाहता—यहाँ तक कि शासन-कर्मी भी इसे देने से कतराते हैं—किन्तु प्रतिकूल समय उपस्थित होने पर आय-कर बलपूर्वक वसूल कर लिया जाता है और करदाता हाथ मलता रह जाता है।

कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्ननिर्वृतिलक्षणमनुभवति ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—कभी-कभी; मनोरथ-उपगत—मन में कल्पना द्वारा प्राप्त; पितृ—पिता; पिता-मह-आदि—अथवा बाबा तथा अन्य; असत्—बहुत पूर्व मृत होने पर भी (और यह न जानते हुए कि जीव चला गया है); सत्—पिता या पितामह पुनः पधारते हैं; इति—ऐसा सोचकर; स्वप्न-निर्वृति-लक्षणम्—स्वप्न-सुख के समान; अनुभवति—(जीव) अनुभव करता है।

कभी-कभी बद्धजीव यह कल्पना करने लगता है कि उसके पिता या बाबा अपने पुत्र या पौत्र के रूप में इस संसार में पुनः आ गए। इस प्रकार उन्हें स्वप्न का सा सुख अनुभव होता है और कभी-कभी बद्धजीव को ऐसी मानसिक कल्पनाओं में सुख मिलता है।

तात्पर्य : परमेश्वर श्रीभगवान् के वास्तविक अस्तित्व से अनजान रहने के कारण बद्धजीव नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता रहता है। सकाम कर्म के वशीभूत होकर वह अपने सम्बन्धियों, पिता, पुत्र तथा पितामह जनों की संगति में उसी प्रकार अनुभव करने लगता है, जिस प्रकार बहते भँवर में तिनके एकत्र हो जाते हैं। ये तिनके क्षण भर में बिखर जाते हैं और उनका पारस्परिक सम्पर्क टूट जाता है। जीवात्मा क्षणिक रूप से अनेक बद्धजीवों के साथ रहता है। ये जीव कुटुम्बियों के रूप में एकत्र होते हैं और इनमें इतनी उत्कट वत्सलता होती है कि पिता या पितामह के दिवंगत हो जाने पर भी उन्हें यह

सोचकर सुखानुभूति होती है कि वे रूप बदल कर परिवार में लौट आते हैं। कभी-कभी ऐसा हो भी सकता है, किन्तु बद्धजीव ऐसी कपोल-कल्पनाओं में सदैव सुख अनुभव करना चाहता है।

क्वचिद्गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो लोकव्यसनकर्षितमनाः कण्टकशर्कराक्षेत्रं
प्रविशन्निव सीदति. ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; गृह-आश्रम—गृहस्थ जीवन; कर्म-चोदन—सकाम कर्म का पालन; अति-भर-गिरिम्—ऊँची पहाड़ी; आरुरुक्षमाणः—चढ़ने की इच्छा लेकर; लोक—भौतिक (संसार); व्यसन—लत; कर्षित-मनाः—आकर्षित मन वाले; कण्टक-शर्करा-क्षेत्रम्—काँटे तथा कंकड़ों से आच्छादित खेत में; प्रविशन्—घुसते हुए; इव—सदृश; सीदति—पश्चात्ताप करता है।

गृहस्थाश्रम में नाना प्रकार के यज्ञ तथा कर्मकाण्ड (विशेष रूप से पुत्र-पुत्रियों के लिए विवाह यज्ञ और यज्ञोपवीत संस्कार) करने होते हैं। ये सभी गृहस्थ के कर्तव्य हैं। ये अत्यन्त व्यापक होते हैं और इनको सम्पन्न करना कष्टदायक होता है। इनकी उपमा एक बड़ी पहाड़ी से दी जाती है, जिसे सांसारिक कर्मों में संलग्न होने पर लाँघना ही पड़ता है। जो व्यक्ति इन अनुष्ठानों पर विजय प्राप्त करना चाहता है उसे पहाड़ी में चढ़ते समय काँटों तथा कंकड़ों के चुभने से होने वाली पीड़ा का-सा अनुभव करना होता है। इस प्रकार बद्धजीव को अनन्त यातनाएँ सहनी पड़ती हैं।

तात्पर्य : समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए अनेक सामाजिक कृत्य करने पड़ते हैं। विभिन्न देशों तथा समाजों में नाना प्रकार के उत्सव तथा अनुष्ठान होते हैं। भारत देश में यह मान्यता है कि पिता अपनी संतानों का विवाह करे। ऐसा कर लेने पर परिवार के प्रति उसका उत्तरदायित्व पूरा हो जाता है। आजकल विवाह तय करना अत्यन्त कष्टसाध्य हो गया है। इस समय न तो कोई ठीक से यज्ञ अनुष्ठान कर सकता है, न ही कोई अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाहोत्सवों का व्यय वहन कर सकता है। फलतः जब गृहस्थों को ये सामाजिक कृत्य करने होते हैं, तो वे अत्यन्त संतप्त होते हैं। ऐसा लगता है मानो उनके पांव में काँटे चुभ रहे हों, अथवा पत्थर कष्ट दे रहे हों किन्तु भौतिक लगाव इतना प्रगाढ़ होता है कि इतने कष्टों के बावजूद भी वह उन्हें छोड़ नहीं पाता। अतः प्रह्लाद महाराज का उपदेश है (भागवत ७.५.५)—

हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं

वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत् ।

तथाकथित सुखमय पारिवारिक स्थिति की तुलना खेत के अन्धे कुँए से की गई है। यदि तृणाच्छादित अंधकूप में कोई गिर पड़े तो रक्षा के लिए चीत्कार करने पर भी उसे जीवन से हाथ धोना पड़ता है। इसीलिए पहुँचे हुए आत्मज्ञानी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की संस्तुति नहीं करते। अच्छा यही है कि ब्रह्मचर्य-आश्रम में संयम पालन करने का दृढ़ निश्चय करके आजीवन ब्रह्मचारी रह जाए जिससे गृहस्थाश्रम के भौतिक जीवन के कंटकों का अनुभव न हो सके। गृहस्थाश्रम में रहकर इष्ट मित्रों के निमंत्रण स्वीकार करने पड़ते हैं और अनुष्ठानों का पालन करना होता है। ऐसा करने से प्राणी इनका दास बन जाता है भले ही इन्हें करते रहने के लिए उसके पास पर्याप्त साधनों का अभाव ही क्यों न हो। गृहस्थाश्रम में जीवन शैली बनाये रखने के लिए धनार्जन हेतु अत्यधिक श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार वह सांसारिक जीवन में फँस कर काँटों की चुभन जैसा अनुभव करता रहता है।

क्वचिच्च दुःसहेन कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः स्वकुटुम्बाय क्रुध्यति. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित् च—और कभी-कभी; दुःसहेन—असह्य; काय-अभ्यन्तर-वह्निना—शरीर के अन्तर्गत क्षुधा तथा पिपासा की अग्नि के कारण; गृहीत-सारः—धैर्य चुकने पर; स्व-कुटुम्बाय—अपने ही कुटुम्बी जनों पर; क्रुध्यति—क्रुद्ध होता है, नाराज होता है।

कभी-कभी शारीरिक भूख और प्यास से त्रस्त बद्धजीव इतना विचलित हो जाता है कि उसका धैर्य टूट जाता है और वह अपने ही प्रिय पुत्रों, पुत्रियों तथा पत्नी पर रुष्ट हो जाता है। इस प्रकार निष्ठुर होने पर उसकी यातना और भी बढ़ जाती है।

तात्पर्य : श्रील विद्यापति ठाकुर का गीत है—

तातल सैकते, वारि-बिन्दु-सम

सुत-मित-रमणी-समाजे ।

कुटुम्ब-जीवन के सुख की तुलना मरुस्थल में जल बिन्दु से की गई है। कोई भी प्राणी कुटुम्ब-जीवन में सुखी नहीं रह सकता। वैदिक सभ्यता के अनुसार कोई चाह कर भी कुटुम्ब-जीवन के उत्तरदायित्वों से छोड़ नहीं सकता, किन्तु आजकल प्रत्येक व्यक्ति तलाक के द्वारा पारिवारिक जीवन का परित्याग कर रहा है। इसका कारण परिवार की दयनीय व्यवस्था है। कभी-कभी कष्टमय स्थिति के कारण मनुष्य अपने प्यारे पुत्रों, पुत्रियों तथा पत्नी के प्रति अत्यन्त निष्ठुर बन जाता है। यह सांसारिक

जीवन की दावाग्नि का अंगस्वरूप है।

स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे तमसि मग्नः शून्यारण्य इव शोते नान्यत्किञ्चन वेद शव इवापविद्धः ॥
२० ॥

शब्दार्थ

सः—वह बद्धजीव; एव—निश्चय ही; पुनः—फिर से; निद्रा-अजगर—गहरी नींद रूपी अजगर द्वारा; गृहीतः—भक्षण किये जाने पर; अन्धे—घनान्धकार में; तमसि—अज्ञान में; मग्नः—लित्त; शून्य-अरण्ये—वीरान वन में; इव—के समान; शोते—लेट जाता है; न—नहीं; अन्यत्—अन्य; किञ्चन—कुछ भी; वेद—जानता है; शवः—मृत शरीर; इव—सदृश; अपविद्धः—फेंका हुआ।

शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित् से आगे कहते हैं—प्रिय राजन्, निद्रा अजगर के समान है। जो मनुष्य भौतिक जीवनरूप वन में विचरण करते रहते हैं उन्हें निद्रा-अजगर अवश्य ही निगल जाता है। इस अजगर द्वारा डसे जाने के कारण वे अज्ञान-अंधकार में खोये रहते हैं। वे सुदूर वन में मृत शरीर की भाँति फेंक दिये जाते हैं। इस प्रकार बद्धजीव समझ नहीं पाता कि जीवन में क्या हो रहा है।

तात्पर्य : सांसारिक जीवन का अर्थ है आहार, निद्रा, मैथुन तथा आत्मरक्षा (भय) में सतत तल्लीन रहना। इनमें से निद्रा सबसे भयानक है। सो जाने पर मनुष्य पूर्णतया भूल जाता है कि जीवन का लक्ष्य क्या है और उसे क्या करना है। आत्म-साक्षात्कार के लिए यह आवश्यक है कि यथासम्भव निद्रा से बचा जाये। वृन्दावन के गोस्वामी तनिक भी नहीं सोते थे। निस्सन्देह, वे थोड़ा सोते थे क्योंकि शरीर के लिए निद्रा आवश्यक है, किन्तु दो घंटे से अधिक नहीं सोते थे और कभी-कभी इतना भी नहीं सोते थे। वे सदैव आध्यात्मिक अनुशीलन में तत्पर रहते थे। निद्राहार-विहारकादि-विजितौ। गोस्वामियों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए हमें भी निद्रा, आहार, मैथुन तथा आत्मरक्षा में कमी लानी चाहिए।

कदाचिद्भग्नमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्धनिद्राक्षणो
व्यथितहृदयेनानुक्षीयमाणविज्ञानोऽन्धकूपेऽन्धवत्पतति ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—कभी-कभी; भग्न-मान-दंष्ट्रः—गर्व रूपी दाँत टूटे हैं जिसके; दुर्जन-दन्द-शूकैः—सर्प तुल्य दुष्ट पुरुषों की ईर्ष्या के कारण; अलब्ध-निद्रा-क्षणः—जिसे सोने का सुअवसर प्राप्त नहीं हो पाता; व्यथित-हृदयेन—विक्षुब्ध मन से; अनुक्षीयमाण—क्रमशः ह्रास होते हुए; विज्ञानः—जिसका अन्तर्बोध; अन्ध-कूपे—अंध कुएँ में; अन्ध-वत्—छलावे की तरह; पतति—गिर पड़ता है।

कभी-कभी भौतिक जगत रूपी वन में बद्धजीव सर्पों तथा अन्य जन्तुओं जैसे ईर्ष्यालु शत्रुओं के द्वारा दंशित होता रहता है। शत्रु के छलावे से बद्धजीव अपने प्रतिष्ठित पद से च्युत हो जाता है। चिन्ताकुल होने से उसे ठीक से नींद तक नहीं आती। इस प्रकार वह अधिकाधिक दुखी होता जाता है और क्रमशः अपना ज्ञान तथा चेतना खो बैठता है। उसकी दशा उस स्थायी अन्ध पुरुष के समान हो जाती है जो अज्ञान के अन्धकूप में गिर गया हो।

कहिं स्म चित्काममधुलवान्विचिन्वन्यदा परदारपरद्रव्याण्यवरुन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे निरये. ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कहिं स्म चित्—कभी-कभी; काम-मधु-लवान्—इन्द्रियसुख (विषय) के लघु मधुकणों के सदृश; विचिन्वन्—ढूँढते हुए; यदा—जब; पर-दार—परायी स्त्री; पर-द्रव्याणि—परायी सम्पत्ति; अवरुन्धानः—अपनी सम्पत्ति मानकर; राज्ञा—राजा के द्वारा; स्वामिभिः वा—अथवा स्त्री के पति वा सम्बन्धियों द्वारा; निहतः—बुरी तरह पिट कर; पतति—गिर पड़ता है; अपारे—अपार, अछोर; निरये—नारकीय जीवन (बलात्कार, अपहरण अथवा पराया धन चुराने जैसे कार्यों के लिए राजा द्वारा प्रदत्त कैद)।

कभी-कभी बद्धजीव इन्द्रिय-तृप्ति से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख की ओर आकर्षित होता है। फलस्वरूप वह अवैध यौन-सम्पर्क में रत होता है अथवा पराये धन को चुराता है। ऐसी अवस्था में वह राजा द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। या फिर उस स्त्री का पति या उसका संरक्षक उसे दण्डित करता है। इस प्रकार किञ्चित् सांसारिक तुष्टि हेतु वह नारकीय स्थिति में जा पड़ता है और बलात्कार, अपहरण, चोरी तथा इसी प्रकार के कृत्यों के लिए कारागार में डाल दिया जाता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जीवन में अवैध यौन-सम्पर्क, द्यूत, क्रीड़ा, मादकद्रव्य सेवन तथा मांसाहार में लिप्त होने पर बद्धजीव अत्यन्त विषम परिस्थितियों में फँस जाता है। मांसाहार तथा मादकद्रव्य सेवन से इन्द्रियाँ अधिकाधिक उत्तेजित होती रहती हैं और बद्धजीव कामिनी के चंगुल में पड़ जाता है। कामिनी को धन चाहिए और धन प्राप्त करने के लिए दूसरों से माँगता है, उधार लेता है या फिर उसे चोरी करनी पड़ती है। सचमुच ही उसे जघन्य कृत्य करने पड़ते हैं, जिससे उसे इस जन्म में तथा अगले जन्म में कष्ट भोगना पड़ता है। फलतः जो आत्म-साक्षात्कार के इच्छुक हैं, या उस पथ पर अग्रसर हैं उन्हें चाहिए कि वे अवैध यौन-सम्पर्क का परित्याग कर दें। अनेक भक्तजन अवैध यौन सम्पर्क से पतित हो जाते हैं। सम्भव है कि वे चोरी भी करने लगें और अत्यन्त सम्मानित संन्यास आश्रम से

विपथ हो जाँय। फिर जीविकोपार्जन के लिए उन्हें तुच्छ सेवाएँ करनी पड़ती हैं और वे भिक्षुक बन जाते हैं। इसलिए शास्त्रों का कथन है—*यन् मैथुनादि-गृहमेधि-सुखं हि तुच्छम्*—कि सांसारिकता यौनाचार पर आश्रित है चाहे वह वैध हो या अवैध। यौनाचार गृहस्थों के लिए भी संकटों से पूर्ण है। चाहे किसी के पास यौनाचार की वैधता हो अथवा नहीं, इसमें भारी कष्ट होते हैं। *बहु-दुःख-भाक्*—यौनाचार में लिप्त होने पर न जाने कितनी विपदाएँ उत्पन्न होती हैं। भौतिक जीवन में उसे दुख ही दुख मिलता है। जिस प्रकार कृपण पुरुष अपनी सम्पत्ति का समुचित उपभोग नहीं कर पाता उसी प्रकार भौतिकतावादी पुरुष मनुष्यरूप का दुरुपयोग करता है। उसे आत्मोन्नति के लिए उपयोग न करके वह इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर का उपयोग करता है। इसीलिए वह कृपण कहलाता है।

अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; च—और; तस्मात्—इस कारण; उभयथा अपि—इस जन्म में तथा अगले जन्म में; हि—निस्सन्देह; कर्म—सकाम कर्म; अस्मिन्—इन्द्रिय सुख के इस मार्ग पर; आत्मनः—जीवात्मा का; संसार—भौतिक जीवन का; आवपनम्—खेत अथवा स्रोत; उदाहरन्ति—वेदों का वचन है।

इसीलिए विद्वत्जन तथा अध्यात्मवादीगण कर्म के भौतिक मार्ग (प्रवृत्ति) की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि इस जन्म में तथा अगले जन्म में सांसारिक दुखों का आदि स्रोत तथा उसको पल्लवित करने की आधार भूमि वही है।

तात्पर्य : जीवन का मूल्य न समझने के कारण कर्मीजन ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेते हैं, जिनके कारण उन्हें इस जन्म में तथा अगले जन्म में दुख भोगना पड़ता है। दुर्भाग्यवश कर्मीजन विषय-वासनाओं में अत्यधिक लिप्त रहते हैं और वे इस जन्म में या अगले जन्म में भौतिक जीवन की दीन दशा का अनुमान नहीं लगा सकते। इसीलिए वेदों का आदेश है कि मनुष्य को चाहिए कि आत्म-चेतना को जाग्रत करे और अपने सम्पूर्ण कर्मों को श्रीभगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने में लगाए। भगवद्गीता (९.२७) में श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

“इसलिए हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है या हवन करता है, जो कुछ

दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।”

अपने कर्मों के फलों का सदुपयोग विषयभोग के लिए न करके श्रीभगवान् के मिशन के लिए होना चाहिए। श्रीभगवान् ने जीवनोद्देश्य के सम्बन्ध की सारी बातें *भगवद्गीता* में कही हैं और उसके अन्त में अपनी शरण में आने को कहते हैं। लोग सामान्य रूप से इसे पसन्द नहीं करते, किन्तु जो अनेक जन्मों तक आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करता है, वह अन्ततः श्रीभगवान् के चरणारविन्द में समर्पित हो जाता है— *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।*

मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति तस्मादपि विष्णुमित्र इत्यनवस्थितिः. ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मुक्तः—मुक्तिप्राप्त; ततः—उससे; यदि—यदि; बन्धात्—राज्य कारावास से या स्त्री-रक्षक द्वारा प्रताड़ित होने पर; देव-दत्तः—देवदत्त नामक व्यक्ति; उपाच्छिनत्ति—उसका धन छीन लेता है; तस्मात्—देवदत्त से; अपि—पुनः; विष्णु-मित्रः—विष्णुमित्र नामक व्यक्ति; इति—इस प्रकार; अनवस्थितिः—धन एक स्थान पर न रहकर एक हाथ से दूसरे हाथ में चला जाता है।

यह बद्धजीव पराये धन को चुराकर या ठगकर किसी तरह से उसे अपने पास रखता है और दण्ड से बच जाता है। तब देवदत्त नामक एक अन्य व्यक्ति इस धन को उससे ठग लेता है। इसी प्रकार विष्णुमित्र नामक एक तीसरा व्यक्ति यह धन देवदत्त से छीन लेता है। यह धन किसी भी दशा में एक स्थान पर टिकता नहीं है। यह एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहता है। अन्त में इसका कोई उपभोग नहीं कर पाता और यह श्रीभगवान् की सम्पत्ति बन जाता है।

तात्पर्य : धन तो सौभाग्य की देवी लक्ष्मी से आता है और लक्ष्मीजी स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीनारायण की सम्पत्ति हैं। नारायण को छोड़कर लक्ष्मी कहीं भी स्थिर नहीं रहतीं। इसीलिए उनका एक नाम चंचला भी है। जब तक वे अपने पति नारायण के संग नहीं होतीं, वे शान्तिपूर्वक नहीं रह पातीं। उदाहरणार्थ, भौतिकतावादी रावण लक्ष्मी को हर ले गया। रावण ने भगवान् राम की पत्नी का अपहरण किया। परिणाम यह हुआ कि रावण का समस्त परिवार, वैभव तथा साम्राज्य विनष्ट हो गया और सौभाग्य की देवी सीताजी उसके चंगुल से मुक्त होकर भगवान् श्रीराम से पुनः मिल गईं। इस प्रकार समस्त धन, वैभव तथा ऐश्वर्य श्रीकृष्ण का है। *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा भी गया है— *भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्—*“पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त यज्ञों तथा तपों के भोक्ता हैं और सभी लोकों के सर्वोच्च स्वामी हैं।”

मूर्ख भौतिकतावादी मनुष्य धन संग्रह करते हैं और अन्य चोरों से चुराते हैं, किन्तु उसे अपने पास रख नहीं पाते। प्रत्येक दशा में उसको व्यय होना है। एक व्यक्ति दूसरे को ठगता है और दूसरा किसी अन्य को। अतः लक्ष्मी को वश में रखने की श्रेष्ठ विधि है कि उसे नारायण के निकट रहने दिया जाये। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। हम नारायण (श्रीकृष्ण) सहित लक्ष्मी (राधारानी) की पूजा करते हैं। हम विभिन्न साधनों से धन संग्रह करते हैं, किन्तु वह धन किसी व्यक्ति का न होकर राधाजी तथा श्रीकृष्ण (लक्ष्मी-नारायण) का होता है। यदि यह धन लक्ष्मी-नारायण की सेवा में लगाया जाता है, तो भक्त स्वतः ही वैभवपूर्ण जीवन बिताता है। किन्तु यदि कोई लक्ष्मी का उपभोग रावण की तरह करना चाहता है, तो प्रकृति के नियमों के द्वारा वह पराजित होगा और जो कुछ उसके अधिकार में है, वह छीन लिया जायगा। अन्त में मृत्यु सब कुछ अपने साथ ले जायेगी और मृत्यु ही श्रीकृष्ण की प्रतिनिधिस्वरूपा है।

क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकभौतिकात्मीयानां दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण आस्ते. ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; च—भी; शीत-वात-आदि—ठंड तथा झंझा इत्यादि; अनेक—कई; अधिदैविक—देवों द्वारा उत्पन्न, दैविक; भौतिक—अधिभौतिक, अन्य जीवों द्वारा उत्पन्न; आत्मीयानाम्—आध्यात्मिक, देह तथा मन द्वारा उत्पन्न; दशानाम्—कष्टपूर्ण दशाओं के; प्रतिनिवारणे—निवारण करने में; अकल्पः—अशक्य; दुरन्त—अत्यन्त कठोर; चिन्तया—चिन्ता के कारण; विषण्णः—दुखी; आस्ते—रहता है।

भौतिक जगत के तापत्रय से अपनी रक्षा न कर सकने के कारण बद्धजीव अत्यन्त दुखी रहता है और शोकपूर्ण जीवन बिताता है। ये तीन प्रकार के संताप हैं—देवताओं द्वारा दिये जानेवाला मानसिक ताप, (यथा हिमानी हवा तथा चलचिलाती धूप), अन्य जीवात्माओं द्वारा प्रदत्त ताप तथा मन एवं देह से उत्पन्न होने वाले ताप।

तात्पर्य : तथाकथित सुखी भौतिकतावादी व्यक्ति को निरन्तर तीन प्रकार के ताप सहने पड़ते हैं, जिन्हें अधिदैविक, आध्यात्मिक तथा अधिभौतिक कहते हैं। वास्तव में इन तीनों तापों का निवारण किसी के वश का नहीं है। ये तीनों एकसाथ किसी एक समय आक्रमण कर सकते हैं, अथवा यह भी हो सकता है कि इनमें से कोई एक ताप न सताये और अन्य उपस्थित रहें। इस प्रकार जीवात्मा निरन्तर चिन्ता से पूर्ण रहता है और उसे भय बना रहता है कि किसी न किसी ओर से ताप आ सकते हैं।

बद्धजीव इन तापों में से कम से कम एक से अवश्य विचलित होता रहता है। इनसे छुटकारा नहीं मिल पाता।

क्वचिन्मिथो व्यवहरन्त्यत्किञ्चिद्धनमन्येभ्यो वा काकिणिकामात्रमप्यपहरन्त्यत्किञ्चिद्वा विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; मिथः—परस्पर; व्यवहरन्—व्यवहार करते हुए; यत् किञ्चित्—जो कुछ भी थोड़ा सा; धनम्—धन; अन्येभ्यः—अन्यों से; वा—या; काकिणिका-मात्रम्—अत्यल्प धन (बीस कौड़ी); अपि—निश्चय ही; अपहरन्—ठग कर ले लेने पर; यत् किञ्चित्—जो कुछ भी अल्प मात्रा; वा—या; विद्वेषम् एति—वैर उत्पन्न करता है; वित्त-शाठ्यात्—ठगने के फलस्वरूप।

जहाँ तक धन के लेन-देन का सम्बन्ध है, यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे की एक कौड़ी या इससे भी कम धन ठग लेता है, तो वे परस्पर शत्रु बन जाते हैं।

तात्पर्य : इसे संसार-दावानल कहते हैं। दो व्यक्तियों के बीच सामान्य लेन-देन में भी सदैव ठगी होती है, क्योंकि बद्धजीव में चार प्रकार के दोष रहते हैं—वह भ्रम में होता है, वह त्रुटियाँ करता है, उसका ज्ञान अपूर्ण है और उसमें ठगने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जब तक सांसारिक बन्धनों से छुटकारा नहीं होता, ये चारों दोष बने रहते हैं। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति में ठगने की प्रवृत्ति होती है, जिसे वह व्यापार या रुपयों के लेन-देन में प्रयुक्त करता है। भले ही दो मित्र शान्तिपूर्वक एकसाथ रह रहे हों, किन्तु जब उनमें लेन-देन होता है, तो ठगी-प्रवृत्ति के कारण वे एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। एक दार्शनिक किसी अर्थशास्त्री को और एक अर्थशास्त्री किसी दार्शनिक को, जब वह धन के सम्पर्क में आता है, वंचक (धोखेबाज, ठग) कह सकता है। कुछ भी हो, भौतिक जीवन की यही स्थिति है। कोई कितना भी दर्शन बघारे, किन्तु जब उसे धन की आवश्यकता होती है, तो वह ठग बन जाता है। इस भौतिक संसार में तथाकथित वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा अर्थशास्त्री किसी न किसी रूप में ठग हैं। वैज्ञानिक इसलिए ठग कहे जा सकते हैं, क्योंकि विज्ञान के नाम पर वे अनेक मिथ्या बातें कहते रहते हैं। वे चन्द्रमा पर जाने की योजना बनाकर जनता से अपने प्रयोगों के लिए विशाल धनराशि ठग लेते हैं। वे कोई लाभप्रद कार्य नहीं कर सकते हैं। जब तक उपर्युक्त चार मूलभूत दोषों से मुक्त कोई दिव्य व्यक्ति न मिल जाये, तब तक किसी के परामर्श को नहीं मानना चाहिए। और भौतिक स्थिति का शिकार नहीं बनना चाहिए। सर्वोत्तम विधि तो यह है कि श्रीकृष्ण या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि से ही

उपदेश ग्रहण किया जाये। इस तरह इस जीवन में तथा आगे भी सुखी हुआ जा सकता है।

अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गास्तथा

सुखदुःखरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्यैर्ष्यावमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरामरणा
दयः. ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

अध्वनि—भौतिक जीवन के पथ पर; अमुष्मिन्—उस; इमे—ये सब; उपसर्गाः—शाश्वत कठिनाइयाँ; तथा—और; सुख—
तथाकथित सुख; दुःख—कष्ट; राग—आसक्ति; द्वेष—घृणा; भय—डर; अभिमान—झूठा गर्व; प्रमाद—भ्रम; उन्माद—
पागलपन; शोक—शोक; मोह—मोह; लोभ—लालच; मात्सर्य—विद्वेष; ईर्ष्य—दुश्मनी, वैर; अवमान—अनादर; क्षुत्—क्षुधा;
पिपासा—प्यास; आधि—आपदाएँ; व्याधि—रोग; जन्म—जीव धारण करना; जरा—बुढ़ापा; मरण—मृत्यु; आदयः—
इत्यादि।

इस भौतिक जगत में अनेकानेक कठिनाइयाँ आती हैं और ये सभी दुर्लभ्य हैं। इनके अतिरिक्त तथाकथित सुख, दुख, राग, द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मत्सर, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा, पिपासा, आधि, व्याधि तथा जन्म, जरा, मरण से उत्पन्न होने वाली बाधाएँ आती हैं। ये सभी मिलकर संसारी बद्धजीव को दुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे पातीं।

तात्पर्य : इस संसार में बद्धजीव इन सभी परिस्थितियों को मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए स्वीकार करता है। यद्यपि व्यक्ति अपने को महान् वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ तथा समाजशास्त्री घोषित करते रहते हैं, किन्तु वास्तव में हैं, वे शठ। इसीलिए भगवद्गीता (७.१५) में उन्हें मूढ़ और नराधम वर्णित किया गया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

“माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए, मनुष्यों में अधम और पाप को करने वाले मूढ़ मेरी शरण नहीं लेते।”

भगवद्गीता में इन सभी सांसारिक प्राणियों को उनकी मूर्खता के कारण नराधम कहा गया है। उनको मनुष्य जीवन इसलिए प्राप्त हुआ है कि वे सांसारिक बन्धन से मुक्त हों, किन्तु वे ऐसा न करके दुखद परिस्थितियों में फँसे रहते हैं, इसीलिए वे मनुष्यों में नराधम हैं। प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या वैज्ञानिक, दार्शनिक, अर्थशास्त्री तथा गणितज्ञ भी नराधम हैं? भगवान् का उत्तर है कि वे नराधम हैं,

क्योंकि उन्हें वास्तविक ज्ञान नहीं है। वे मात्र अपनी झूठी प्रतिष्ठा और पद पर गर्व करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे इस भौतिक अवस्था से उद्धार पाने, जीवन को उदात्त तथा ज्ञानमय बनाने की कोई विधि नहीं जानते। फलस्वरूप वे तथाकथित सुख की खोज में शक्ति तथा समय का अपव्यय करते हैं। ये असुरों के लक्षण हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब किसी में ये आसुरी गुण रहते हैं, तो वह मूढ़ बन जाता है। इसके कारण वह भगवान् से द्वेष करने लगता है, फलतः वह असुरों के वंश में बारम्बार जन्म धारण करता है और एक आसुरी देह से दूसरी में देहान्तर करता है। इस प्रकार वह श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूल कर जन्म-जन्मांतर नराधम बना रहता है।

क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्नविवेकविज्ञानो

यद्विहारगृहारम्भाकुलहृदयस्तदाश्रयावसक्तसुतदुहितृकलत्रभाषितावलोकविचेष्टितापहतहृदय

आत्मानमजितात्मापारेऽन्धे तमसि प्रहिणोति ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

क्वापि—कहीं भी; देव-मायया—देवमाया के वश में होकर; स्त्रिया—सखी या पत्नी के रूप में; भुज-लता—वन की कोमल लताओं के सदृश सुन्दर बाहुओं के द्वारा; उपगूढः—अत्यधिक व्याकुल होकर; प्रस्कन्न—खोया हुआ; विवेक—सत् असत् का ज्ञान; विज्ञानः—विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान; यत्-विहार—पत्नी सुख के लिए; गृह-आरम्भ—घर की तलाश करने में; आकुल-हृदयः—व्याकुल चित्त होकर; तत्—उस घर की; आश्रय-अवसक्त—जो शरण में आये हुए हैं; सुत—पुत्रों का; दुहितृ—पुत्रियों का; कलत्र—पत्नी का; भाषित-अवलोक—उनके सम्भाषणों तथा बाँकी चितवनों से; विचेष्टित—कार्यों से, चेष्टाओं से; अपहत-हृदयः—जिसका हृदय हर लिया गया है, संज्ञाशून्य; आत्मानम्—स्वयं; अजित—अवश; आत्मा—जिसका आत्मा; अपारे—अनन्त; अन्धे—घनान्धकार में; तमसि—नारकीय जीवन में; प्रहिणोति—गिरा देता है।

कभी-कभी बद्धजीव प्रमादवश मूर्तिमान माया (अपनी पत्नी या प्रेयसी) से आकर्षित होकर स्त्री द्वारा आलिंगन किये जाने के लिए व्याकुल हो उठता है। इस प्रकार वह अपनी बुद्धि तथा जीवन-उद्देश्य के ज्ञान को खो देता है। उस समय वह आध्यात्मिक अनुशीलन का प्रयास न करके अपनी पत्नी या प्रेयसी में अत्यधिक अनुरक्त हो जाता है और उसके लिए उपयुक्त गृह आदि उपलब्ध कराने का प्रयत्न करता है, फिर वह इस घरबार में अत्यधिक व्यस्त हो जाता है और अपनी पत्नी तथा बच्चों की बातों, चितवनों तथा कार्यकलापों में फँस जाता है। इस प्रकार वह कृष्णभावनामृत से वंचित होकर लौकिक अस्तित्व के गहन अंधकार में गिर जाता है।

तात्पर्य : जब बद्धजीव को अपनी प्राणोपम पत्नी का आलिंगन प्राप्त होता है, तो वह कृष्णभावनामृत के विषय में सब कुछ भूल जाता है। वह अपनी पत्नी से जितना ही अनुरक्त होता है, पारिवारिक जीवन में उतना ही उलझता जाता है। एक बंगाली कवि, श्रीबंकिम चन्द्र का कथन है कि

प्रेमी की दृष्टि में उसकी प्रेमिका अत्यन्त सुन्दर होती है, भले ही वह कुरूप क्यों न हो। यह आकर्षण “देवमाया” कहलाता है। पुरुष और स्त्री का यह आकर्षण दोनों के लिए बन्धन का कारण है। वास्तव में ये दोनों “परा प्रकृति” से सम्बन्धित हैं, परन्तु दोनों ही “प्रकृति” (स्त्री) हैं। किन्तु दोनों ही परस्पर आनन्द लेना चाहते हैं, इसलिए कभी-कभी वे पुरुष (नर) कहलाते हैं। सत्य तो यह है कि उनमें से कोई भी पुरुष नहीं है, किन्तु ऊपर-ऊपर से इन्हें पुरुष कहा जाता है। ज्योंही स्त्री तथा पुरुष का संयोग हो जाता है उनका लगाव घर-बार, खेत, मित्रता तथा धन से हो जाता है। इस तरह वे दोनों भौतिक जगत के जाल में पड़ जाते हैं। भुजलता उपगूढ शब्द का अर्थ है, “लताओं के सदृश सुन्दर भुजाओं द्वारा आलिंगित होकर” और यह बताता है कि किस प्रकार बद्धजीव इस भौतिक जगत द्वारा बँध जाता है। विवाहित जीवन के फलस्वरूप पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न होते हैं—ये ही परिणाम हैं। भौतिक जगत की यही रीति है।

कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णोश्चक्रात्परमाण्वादिद्विपरार्धापवर्गकालोपलक्षणात्परिवर्तितेन वयसा रंहसा हरत आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्तहृदयस्तमेवेश्वरं कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुषमनादृत्य पाखण्डदेवताः कङ्कगृध्रबकवटप्राया आर्यसमयपरिहृताः साङ्केत्येनाभिधत्ते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कदाचित्—कभी-कभी; ईश्वरस्य—ईश्वर का; भगवतः—श्रीभगवान् के; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; चक्रात्—चक्र से; परमाणु-आदि—सूक्ष्म परमाणुओं के काल से प्रारम्भ करके; द्वि-परार्ध—ब्रह्मा के जीवन की अवधि; अपवर्ग—अन्त; काल—समय का; उपलक्षणात्—लक्षणों से; परिवर्तितेन—चक्र लगाता हुआ; वयसा—आयुओं के क्रमानुसार; रंहसा—तेजी से; हरतः—हरण करके; आ-ब्रह्मा—ब्रह्माजी से लेकर; तृण-स्तम्ब-आदीनाम्—क्षुद्रातिक्षुद्र तृण पर्यन्त; भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; अनिमिषतः—अपलक, निरन्तर; मिषताम्—जीवात्माओं की आँखों के सामने (फिर भी वे रोक नहीं सकते); वित्रस्त-हृदयः—मन में डर कर; तम्—उस (ईश्वर); एव—निश्चय ही; ईश्वरम्—श्रीभगवान् को; काल-चक्र-निज-आयुधम्—काल चक्र ही जिसका साक्षात् आयुध है; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; भगवन्तम्—श्रीभगवान्; यज्ञ-पुरुषम्—जो सभी प्रकार के यज्ञों को स्वीकार करता है, यज्ञ पुरुष को; अनादृत्य—अनादर करके, परवाहकिये बिना; पाखण्ड-देवताः—ईश्वर के पाखण्डी अवतार (मानवकल्पित भगवान् या देवता); कङ्क—बाज; गृध्र—गीध; बक—बगुला; वट-प्रायाः—कौवों के सदृश; आर्य-समय-परिहृताः—आर्यों के द्वारा स्वीकृत प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों से तिरस्कृत होकर; साङ्केत्येन—कपोलकल्पित अप्रामाणिक शास्त्रों द्वारा; अभिधत्ते—पूजा योग्य स्वीकार कर लेता है।

श्रीकृष्ण द्वारा प्रयुक्त निजी आयुध हरिचक्र कहलाता है। यह चक्र कालचक्र है। यह परमाणुओं से लेकर ब्रह्मा की मृत्युपर्यन्त फैला हुआ है और यह समस्त कर्मों को नियंत्रित करने वाला है। यह निरन्तर घूमता रहता है और ब्रह्माजी से लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र तृण तक सभी जीवात्माओं का संहार करता है। इस प्रकार प्राणी बाल्यपन से यौवन तथा प्रौढ़ अवस्था को

प्राप्त करते हुए जीवन के अन्त तक पहुँच जाता है। काल के इस चक्र को रोक पाना असम्भव है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का निजी आयुध होने के कारण यह अत्यन्त कठोर है। कभी-कभी बद्धजीव मृत्यु को निकट आया जानकर ऐसे व्यक्ति की पूजा करने लगता है जो उसे आसन्न संकट से उबार सके। वह ऐसे श्रीभगवान् की परवाह नहीं करता जिनका आयुध अथक काल है। उल्टे वह अप्रामाणिक शास्त्रों में वर्णित मानवनिर्मित देवताओं की शरण में जाता है। ऐसे देवता बाज, गीध, बगुले तथा कौवे के तुल्य हैं। वैदिक शास्त्रों में इनका वर्णन नहीं मिलता। पास खड़ी मृत्यु शेर के आक्रमण की तरह है, जिससे न तो गीध, बाज, कौवे और न ही बगुले बच सकते हैं। जो पुरुष ऐसे अप्रामाणिक मानवनिर्मित देवताओं की शरण में जाता है उसे मृत्यु के चंगुल से नहीं छुड़ाया जा सकता।

तात्पर्य : कहा गया है—*हरिं बिना मृतिं न तरन्ति*। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि की कृपा के बिना कोई भी मृत्यु के क्रूर हाथों से बच नहीं सकता। *भगवद्गीता* का कथन है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—जो भी अपने को पूर्णतया श्रीकृष्ण को समर्पित कर देता है उसे वे भौतिक प्रकृति (दैवी शक्ति) के क्रूर चंगुल से बचा लेते हैं। किन्तु कभी-कभी बद्धजीव मानवकृत देवों, देवताओं, अवतारियों या कपटी स्वामियों अथवा योगियों की शरण में जाना चाहता है। ये सभी ठग अपने आपको धर्मों के नियमों का पालक बताते हैं और इस कलियुग में यह अत्यन्त प्रचलित है। ऐसे अनेक पाखण्डी होते हैं, जो शास्त्रों का आश्रय लिए बिना अपने को अवतार बताते हैं और मूर्ख लोग उनके अनुयायी बन जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने पीछे *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* नामक दो ग्रन्थ सुलभ कर गये हैं। धूर्त लोग इन प्रामाणिक ग्रन्थों का उल्लेख न करके मानवकृत ग्रन्थों की शरण लेते हैं और श्रीकृष्ण से स्पर्धा करते हैं। मानव समाज में आध्यात्मिक भावना को आगे बढ़ाते समय यही सबसे बड़ी कठिनाई सामने आती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्यों को शुद्ध कृष्णभावनामृत के पथ में लाने का भरसक प्रयत्न कर रहा है, किन्तु धोखेबाज पाखण्डियों तथा नास्तिकों की संख्या इतनी अधिक है कि कभी-कभी हमारी समझ में नहीं आता कि इस आन्दोलन को किस प्रकार आगे बढ़ाया जाये। हम किसी भी दशा में तथाकथित अवतारों, देवताओं, ठगों तथा वंचकों की अप्रामाणिक विधियों को स्वीकार नहीं कर सकते, जिन्हें यहाँ पर कौवों, गृद्धों, बाजों तथा बगुलों के रूप में बताया गया है।

यदा पाखण्डिभिरात्मवञ्चितैस्तैरुरु वञ्चितो ब्रह्मकुलं समावसंस्तेषां
शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानेन भगवतो यज्ञपुरुषस्याराधनमेव तदरोचयन्शूद्रकुलं भजते
निगमाचारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा वानरजातेः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; पाखण्डिभिः—पाखण्डियों (नास्तिकों) द्वारा; आत्म-वञ्चितैः—स्वयं को ठगने वाले; तैः—उनके द्वारा; उरु—अधिकाधिक; वञ्चितः—ठगे जाकर; ब्रह्म-कुलम्—वैदिक संस्कृति के पालक एकमात्र ब्राह्मणजन; समावसन्—आत्मिक उन्नति के लिए उनके बीच निवास करते हुए; तेषाम्—उनके (ब्राह्मणों के); शीलम्—शील, अच्छा आचरण; उपनयन-आदि—उपनयन संस्कार इत्यादि, अर्थात् बद्धजीव को ब्राह्मण बनने की शिक्षा देते हुए; श्रौत—वैदिक नियमों के अनुसार, वेद विधि से; स्मार्त—वेदों से प्राप्त प्रामाणिक उपदेशों के अनुसार; कर्म-अनुष्ठानेन—कर्मों के पालन द्वारा; भगवतः—श्रीभगवान् की; यज्ञ-पुरुषस्य—जो वैदिक यज्ञों द्वारा पूजित है; आराधनम्—उस ईश्वर की पूजा; एव—निश्चयपूर्वक; तत् अरोचयन्—चरित्रहीन व्यक्तियों द्वारा कठिनाई से सम्पन्न होने के कारण उसमें आनन्द प्राप्त न कर सकने से, अरुचिकर लगने के कारण; शूद्र-कुलम्—शूद्रों के कुल (समाज) की ओर; भजते—उन्मुख होता है; निगम-आचारे—वैदिक रीतियों के अनुसार आचरण करने में; अशुद्धितः—अशुद्ध; यस्य—जिसका; मिथुनी-भावः—मैथुन सुख अथवा सांसारिक जीवन; कुटुम्ब-भरणम्—परिवार का पालन-पोषण; यथा—सदृश; वानर-जातेः—वानर कुल के, वानर की सन्तानों के।

ऐसे छद्म-स्वामी, योगी तथा अवतारी जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में विश्वास नहीं करते, पाषण्डी कहलाते हैं। वे स्वयं पतित होते हैं और ठगे जाते हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक उन्नति का वास्तविक मार्ग नहीं जानते, अतः उनके पास जो भी जाता है, वही ठगा जाता है। इस प्रकार से ठगे जाने पर वह कभी-कभी वैदिक नियमों के असली उपासकों (ब्राह्मणों अथवा कृष्णभावनामृत वालों) की शरण में जाता है, जो सबों को वेदोक्त आचार से श्रीभगवान् की उपासना करना सिखाते हैं। किन्तु इन रीतियों का पालन न कर सकने के कारण ये धूर्त पुनः पतित होते हैं और शूद्रों की शरण लेते हैं, जो विषयभोग में मग्न रहने में पटु हैं। वानर जैसे पशुओं में मैथुन अत्यन्त प्रकट रहता है और ऐसे मैथुन-प्रेमी व्यक्तियों को वानर की सन्तान कहा जा सकता है।

तात्पर्य : जलचर से पशु स्तर तक विकास की प्रक्रिया पूरी करके जीवात्मा अन्त में मनुष्य रूप को प्राप्त होता है। विकास प्रक्रिया में भौतिक प्रकृति के तीनों गुण कार्यशील रहते हैं। जो प्राणी सत्त्व-गुण के द्वारा मनुष्य रूप प्राप्त करते हैं, वे अपने पशुयोनि के पिछले पूर्वजन्म में गाय थे। जो रजोगुण के द्वारा मनुष्य रूप प्राप्त करते हैं, वे अन्तिम पूर्वजन्म में सिंह और जो तमोगुण के कारण मनुष्य रूप धारण करते हैं, वे पिछले पूर्वजन्म में बन्दर थे। इस युग में जो लोग बन्दर योनि से आते हैं, उन्हें डार्विन जैसे आधुनिक नृतत्वशास्त्री बन्दरों के वंशज मानते हैं। यहाँ हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि

जो केवल विषयभोग में रुचि रखते हैं, वे वास्तव में वानरों से अच्छे नहीं हैं। वानर इन्द्रियसुख भोगने में पटु होते हैं। कभी-कभी उनकी यौन-ग्रन्थियाँ निकालकर मनुष्यों में लगा दी जाती हैं जिससे वे बुढ़ापे में भी यौन-सुख प्राप्त कर सकें। इस प्रकार आधुनिक सभ्यता ने प्रगति की है। भारत से अनेक बन्दरों को पकड़ कर यूरोप भेजा गया ताकी उनकी यौन-ग्रन्थियाँ निकालकर बूढ़े मनुष्यों में लगा दी जा सकें। वास्तविक रूप में जो वानर की सन्तान हैं, वे यौन-व्यापार द्वारा अपने विलासी परिवारों का विस्तार करते हैं। वेदों में भी कुछ ऐसे संस्कार हैं जिनके द्वारा यौन-उन्नति करके उच्च लोकों में पहुँचा जा सकता है जहाँ देवता इन्द्रियसुख में प्रवृत्त रहते हैं। देवताओं की भी मैथुन के प्रति अति प्रवृत्ति रहती है, क्योंकि सांसारिक सुख का मूल सिद्धान्त यही है।

सर्वप्रथम जब बद्धजीव सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाने के उद्देश्य से नामधारी स्वामियों, योगियों तथा अवतारियों की शरण में जाता है, तो वह उनके द्वारा ठगा जाता है। किन्तु जब उनसे उसकी तुष्टि नहीं होती तो वह भक्तों तथा विशुद्ध ब्राह्मणों के पास जाता है जो सांसारिक बन्धनों से मुक्ति के लिए उसे ऊपर उठाने का प्रयास करते हैं। किन्तु अविवेकी बद्धजीव मैथुन, मादकद्रव्य-सेवन, द्यूत-क्रीड़ा तथा मांसाहार वर्जित करने वाले नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं कर पाता। इस प्रकार वह पतित हो जाता है और ऐसे मनुष्यों की शरण में जाता है जो वानरतुल्य हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ऐसे वानर-शिष्य विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन न कर सकने के कारण कभी कभी पतित हो जाते हैं और मैथुन-आश्रित समाज बनाने का प्रयास करते हैं। यह इसका प्रमाण है कि मनुष्य वानरों की सन्तान हैं जैसाकि डार्विन ने पुष्टि की है। इस श्लोक में इसीलिए स्पष्ट कथन है— *यथा वानरजातेः।*

तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्नतिकृपणबुद्धिरन्योन्यमुखनिरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव
विस्मृतकालावधिः. ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—उस अवस्था में (वानरों की संतति मनुष्यों के समाज में); निरवरोधः—बिना रोकटोक के; स्वैरेण—स्वच्छन्दतापूर्वक, जीवन के लक्ष्य को ध्यान में न रखकर; विहरन्—वानरों की भाँति भोग करते हुए; अति-कृपण-बुद्धिः—ठीक से प्रयोग न करने के कारण मन्द-बुद्धि; अन्योन्य—परस्पर, एक दूसरे का; मुख-निरीक्षण-आदिना—मुखों को देखकर (जब पुरुष किसी स्त्री के सुन्दर मुख को देखता है अथवा कोई स्त्री किसी पुरुष के सुगढ़ शरीर को देखती है, तो वे एक दूसरे की लालसा करते हैं); ग्राम्य-कर्मणा—इन्द्रियतृष्टि के लिए कर्म करके; एव—एकमात्र; विस्मृत—भूला हुआ; काल-अवधिः—सीमित जीवन-काल (जिसके बाद उसका आवागमन, पतन या उत्कर्ष हो सकता है)।

इस प्रकार वानरों की सन्तानें एक दूसरे से घुलती-मिलती हैं और सामान्य रूप से शूद्र

कहलाती हैं। मुक्त भाव से वे जीवन का उद्देश्य समझे बिना स्वच्छन्द विहार करती हैं। वे एक दूसरे के मुख को देखकर ही मुग्ध होती रहती हैं, क्योंकि इससे इन्द्रिय-तुष्टि की स्मृति बनी रहती है। वे निरन्तर सांसारिक कर्म में लगी रहती हैं, जिसे “ग्राम्य-कर्म” कहते हैं और भौतिक लाभ के लिए कठिन श्रम करती हैं। इस प्रकार वे भूल जाती हैं कि एक दिन उनकी लघु जीवन-अवधि समाप्त हो जाएगी और वे आवागमन के चक्र में नीचे गिर जाएँगी।

तात्पर्य : भौतिकतावादी मनुष्यों को यदाकदा “शूद्र” या उनकी वानर जैसी बुद्धि के कारण वानरों की सन्तान कहा जाता है। उन्हें इसको जानने की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती कि आवागमन चक्र किस प्रकार घटित होता है, न ही उन्हें यह जानने की कोई उत्सुकता रहती है कि उनके मनुष्य योनि के इस लघुजीवन के बाद क्या होगा। यह शूद्रों की प्रवृत्ति है। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन, जो श्री चैतन्य महाप्रभु का ध्येय है, शूद्रों को ब्राह्मणों के पद तक ऊपर उठाने के लिए प्रयत्नशील है, जिससे वे जीवन के वास्तविक उद्देश्य को जान सकें। दुर्भाग्यवश इन्द्रियसुख में अत्यन्त लिप्त रहने के कारण भौतिकतावादी इस आन्दोलन की गम्भीरतापूर्वक सहायता नहीं कर रहे हैं। उलटे, उनमें से कुछ इसे कुचलने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों के कर्मों में विघ्न पहुँचाना वानरों का ही कार्य है। ये वानरों की सन्तानें यह पूर्णरूपेण भूल जाती हैं कि उन्हें मरना है। उन्हें अपने वैज्ञानिक ज्ञान एवं भौतिक संस्कृति की प्रगति का अत्यधिक गर्व रहता है। *ग्राम्य-कर्मणा* शब्द केवल दैहिक सुखों की उन्नति के निमित्त सम्पन्न कार्यों के द्योतक हैं। इस समय समस्त मानव समाज आर्थिक दशाओं एवं दैहिक सुखों को बढ़ाने में संलग्न हैं। लोग यह जानने के तनिक भी इच्छुक नहीं हैं कि मृत्यु के पश्चात् क्या होगा और न ही वे आत्मा के देहान्तरण में ही विश्वास करते हैं। विकासवाद का विधिवत् अध्ययन करके ही यह जाना जा सकता है कि मानव जीवन ऐसा संधिस्थल है जहाँ उन्नति या अवनति का पथ ग्रहण किया जा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

“देवताओं को पूजने वाले देवताओं के बीच जन्म लेते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं।”

हमें इसी जीवन में अगले जन्म के लिए तैयारी करनी होती है। जो रजोगुणी हैं, वे प्रायः स्वर्गलोक जानने में रूचि रखते हैं। कुछ अनजाने ही निम्न पशु योनियों में गिरा दिये जाते हैं। जो सत्त्व-गुणी हैं, वे भक्ति में लग सकते हैं और इसके बाद में भगवद्धाम को वापस जा सकते हैं (*यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*)। मनुष्य-जीवन का यह वास्तविक प्रयोजन है। कृष्णभावानामृत आन्दोलन बुद्धिमान पुरुषों को भक्ति के मंच पर लाने का प्रयास कर रहा है। सांसारिक जीवन में श्रेष्ठतर स्थान प्राप्त करने के प्रयास में समय न गँवाकर मनुष्य को चाहिए कि वह केवल भगवान् के धाम में वापस पहुँचने के लिए प्रयास करे। इससे सभी समस्याएँ हल हो जाएँगी। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) में कहा गया है—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥

“ भगवान् श्रीकृष्ण, जो प्रत्येक के हृदय में विद्यमान परमात्मा हैं तथा अपने अनन्य-भक्तों के सुहृद हैं, वे उन भक्तों के हृदय से प्राकृत-सुख भोगों की वासनाओं को समाप्त कर देते हैं, जो उनके कथामृत का आस्वादन करते हैं। जब वे उनके नामों एवं कथाओं का उचित रीति से श्रवण एवं उच्चारण करते हैं, तो उनका जीवन पुण्यमय एवं पावन हो उठता है। ”

इसके लिए मनुष्य को विधि-विधान का पालन करना, ब्राह्मण की तरह कर्म करना, हरे कृष्ण मंत्र का संकीर्तन करना और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* का पाठ करना होता है। इस प्रकार वह तमो तथा रजो गुणों से अपने को शुद्ध कर लेता है और इन गुणों के मोह से छूटकर पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त कर सकता है। इस तरह कोई भी श्रीभगवान् तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध को समझ सकता है और उच्चतम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है (*सिद्धिं परमां गताः*) ।

क्वचिद्द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन्यथा वानरः सुतदारवत्सलो व्यवायक्षणः. ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—यदा-कदा; द्रुम-वत्—वृक्ष के सदृश (जिस प्रकार वानर एक वृक्ष से दूसरे में कूदकर जाता है वैसे ही बद्धजीव एक से दूसरी देह में देहान्तर करता रहता है); ऐहिक-अर्थेषु—मात्र उत्तम सांसारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए; गृहेषु—घरों (देहों) में; रंस्यन्—सुख अनुभव करते हुए (एक देह से दूसरे में, या तो पशु, मानव या दैव जीवन में); यथा—सदृश; वानरः—बन्दर के; सुत-दार-वत्सलः—सन्तान तथा पत्नी के लिए अत्यन्त प्रिय; व्यवाय-क्षणः—जिसका समय विषयसुख में बीतता है।

जिस प्रकार वानर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूदता रहता है, उसी प्रकार बद्धजीव एक देह

से दूसरी में जाता रहता है। जब कोई शिकारी अन्ततोगत्वा वानर को बन्दी बना लेता है, तो वह छूटकर निकल नहीं पाता। उसी प्रकार यह बद्धजीव क्षणिक इन्द्रिय तृप्ति में फँसकर भिन्न-भिन्न प्रकार की देहों से आसक्त होकर गृहस्थ जीवन में बद्ध जाता है। गृहस्थ जीवन में बद्धजीव को क्षणिक इन्द्रियसुख का आनंद प्राप्त होता है और इस प्रकार वह सांसारिक चंगुल से निकलने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत (११.९.२९) में कहा गया है—*विषयः खलु सर्वतः स्यात्*। किसी भी जीवरूप में आहार, निद्रा, मैथुन तथा आत्मरक्षा—ये दैहिक आवश्यकताएँ प्राप्त हैं। यहाँ पर बताया गया है कि वानर मैथुन के प्रति अत्यधिक आकृष्ट होता है। प्रत्येक वानर की कम से कम दो दर्जन पत्नियाँ रहती हैं और वह बन्दरियों को पकड़ने के लिए एक वृक्ष से दूसरे पर कूदता रहता है और अविलम्ब संभोग में जुट जाता है। इस प्रकार वानर का व्यापार है एक वृक्ष से दूसरे में कूदकर अपनी पत्नियों के साथ यौनाचार का आनन्द लेना। बद्धजीव भी यही कर रहा है। वह एक देह से दूसरे में देहान्तर करके मैथुनरत रहता है। इस प्रकार वह यह भूल जाता है कि भौतिक बन्धन से किस प्रकार मुक्त हुआ जाये। कभी-कभी कोई शिकारी बन्दरों को पकड़ कर डाक्टरों को बेच देता है ताकि उनकी ग्रन्थियों को निकालकर दूसरे वानरों में लगा दिया जाए। यह सारा धन्धा आर्थिक विकास और विकसित यौन जीवन के नाम पर चलाया जा रहा है।

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात्तमसि गिरिकन्दरप्राये. ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; अध्वनि—इन्द्रियतृष्टि के पथ पर; अवरुन्धानः—अवरुद्ध होने पर (फँस जाने पर) वह जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भूल जाता है; मृत्यु-गज-भयात्—मृत्यु रूपी हाथी के डर से; तमसि—अंधकार में; गिरि-कन्दर-प्राये—पर्वत की गहन गुफाओं के सदृश।

बद्धजीव इस भौतिक जगत में भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूलकर तथा श्रीकृष्णभावनामृत की परवाह किये बिना अनेकानेक दुष्कर्मों एवं पापों में प्रवृत्त होने लगता है। तब उसे ताप-त्रय से पीड़ित होना पड़ता है और वह मृत्यु रूपी हाथी के भय से पर्वत की गुफा के घनान्धकार में जा गिरता है।

तात्पर्य : प्रत्येक प्राणी मृत्यु से भयभीत है और भौतिकवादी व्यक्ति चाहे जितना ही बलवान् क्यों

न हो, उसे रोग तथा बुढ़ापा आने पर मृत्यु का संदेश स्वीकार करना पड़ता है। तब बद्धजीव अत्यन्त दुखी (खिन्न) होकर मृत्यु के संदेश को ग्रहण करता है। उसके इस भय की तुलना गहन पहाड़ी गुफा में प्रवेश करने से और मृत्यु की तुलना हाथी से की गई है।

क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविकभौतिकात्मीयानां दुःखानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयविषण्ण आस्ते. ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; शीत-वात-आदि—ठंड अथवा तेज हवा इत्यादि; अनेक—कई, अनेक प्रकार के; दैविक—देवताओं द्वारा अथवा हमारे वश से परे शक्तियों द्वारा दिए जाने वाले; भौतिक—अन्य जीवात्माओं द्वारा दिए जाने वाले; आत्मीयानाम्—बद्धजीव तथा मन द्वारा दिए जाने वाले; दुःखानाम्—अनेकानेक दुखों; प्रतिनिवारणे—निवृत्त करने में; अकल्पः—अशक्त; दुरन्त—दुर्लभ; विषय—इन्द्रियतुष्टि, वासना; विषण्णः—दुखी, खिन्न; आस्ते—रहता है।

बद्धजीव को अनेक दैहिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं यथा अत्यधिक ठंड तथा तेज हवा। वह अन्य जीवात्माओं के कार्यकलापों तथा प्राकृतिक प्रकोपों के कारण भी कष्ट उठाता है। जब वह उनका सामना करने में अक्षम होकर दयनीय अवस्था में रहता है, तो स्वभावतः वह अत्यन्त खिन्न हो उठता है, क्योंकि वह सांसारिक सुविधाओं का भोग करना चाहता है।

क्वचिन्मिथो व्यवहरन्त्यत्किञ्चिद्धनमुपयाति वित्तशाठ्येन. ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी या कहीं भी; मिथः व्यवहरन्—परस्पर क्रय-विक्रय आदि व्यापार करने पर; यत्—जो भी; किञ्चित्—रंच भर; धनम्—सम्पत्ति; उपयाति—प्राप्त करता है; वित्त-शाठ्येन—किसी की सम्पत्ति को ठग करके।

कभी-कभी बद्धजीव परस्पर आदान-प्रदान करते हैं, किन्तु कालान्तर में ठगी के कारण उनमें शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। भले ही रंचमात्र लाभ हो, बद्धजीव परस्पर मित्र न रहकर एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत (५.५.८) में कथित है—

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।

अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति ॥

वानर-तुल्य बद्धजीव पहले मैथुन में आसक्त होता है और वास्तविक संभोग हो जाने पर वह और अधिक लिप्त हो जाता है। तब उसे कुछ भौतिक सुखों की आवश्यकता होती है—यथा निवासस्थान, भोजन, मित्र, सम्पत्ति इत्यादि। इन्हें प्राप्त करने के लिए उसे दूसरों को ठगना पड़ता है और इससे

घनिष्ठ मित्रों से भी उसकी शत्रुता हो जाती है। कभी-कभी बद्धजीव तथा उसके पिता या गुरु के बीच यह शत्रुता ठन जाती है। जब तक कोई विधि-विधान में दृढ़ नहीं रहता, भले ही वह कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सदस्य क्यों न हो, वह धृष्टता करता रहता है। फलतः हम शिष्यों को विधि-नियमों के दृढ़ पालन का उपदेश देते हैं, अन्यथा शिष्यों में विरोध होने पर मानवता के उत्थान के लिए किया जाने वाला यह महत्त्वपूर्ण आन्दोलन अवरुद्ध हो जाएगा। अतः जो इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए इच्छुक हैं उन्हें इसे स्मरण रखना चाहिए और विधि-नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए, जिससे उनके मन विचलित न हों।

क्वचित्क्षीणधनः शय्यासनाशनाद्युपभोगविहीनो

यावदप्रतिलब्धमनोरथोपगतादानेऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि जनादभिलभते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी-कभी; क्षीण-धनः—पर्याप्त धन न होने पर; शय्या-आसन-अशन-आदि—सोने, बैठने अथवा भोजन के लिए स्थान; उपभोग—सांसारिक सुख का; विहीनः—वंचित होकर; यावत्—जब तक; अप्रतिलब्ध—उपलब्ध न होने पर; मनोरथ—अभिलाषा से; उपगत—प्राप्त; आदाने—अनैतिक साधनों से हड़पने में; अवसित-मतिः—संकल्प; ततः—उसके कारण; ततः—उससे; अवमान-आदीनि—अपमान तथा दंड; जनात्—सामान्यजन से; अभिलभते—प्राप्त करता है।

कभी-कभी धनाभाव के कारण बद्धजीव को पर्याप्त स्थान प्राप्त करने में कठिनाई होती है। कभी तो उसे बैठने तक के लिए स्थान नहीं मिल पाता, न ही उसे अन्य आवश्यक वस्तुएँ ही प्राप्त होती हैं। दूसरे शब्दों में, वह अभाव का अनुभव करता है और नैतिक साधनों से इन आवश्यकताओं को न प्राप्त कर पाने के कारण वह अनैतिक ढंग से दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण करता है। जब उसे वांछित वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो पातीं वह दूसरों से अपमान ही प्राप्त करता है, जिससे वह अत्यन्त खिन्न हो उठता है।

तात्पर्य : ऐसा कहा गया है कि आवश्यकता नियम नहीं पहचानती। जब बद्धजीव के जीवन-निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता आ पड़ती है, तो वह कोई न कोई साधन अपनाता है—चाहे वह भीख माँगे, उधार ले अथवा चोरी करे, किन्तु ये वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं, उल्टे उसका अपमान और उपहास किया जाता है। जब तक अच्छी तरह सुव्यवस्थित न रहा जाये, अनुचित साधनों से धन-संग्रह नहीं किया जा सकता। यदि वह धन-संग्रह कर भी ले तो भी वह राजा या जनता की प्रताड़ना तथा अपमान से नहीं बच सकता है। ऐसे अनेक प्रसंग हैं जब महत्त्वपूर्ण व्यक्ति गबन करते पकड़े गये हैं

और उन्हें जेल में रखा गया है। भले ही कोई जेल के दंड से बच जाये, किन्तु वह भगवान् द्वारा दंडित होने से नहीं बच सकता। क्योंकि वे भौतिक प्रकृति के माध्यम से कार्य करते हैं। इसका उल्लेख भगवद्गीता (७.१४) में हुआ है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।* प्रकृति अत्यन्त क्रूर है। वह किसी को भी क्षमा नहीं करती है। जब मनुष्य प्रकृति की अवहेलना करते हैं, तो वे सभी प्रकार के पापकर्म करते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें कष्ट उठाना पड़ता है।

एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि पूर्ववासनया मिथ उद्धृत्यथापवहति ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वित्त-व्यतिषङ्ग—आर्थिक लेन-देन के कारण; विवृद्ध—बढ़ा हुआ; वैर-अनुबन्धः—वैर भाव; अपि—यद्यपि; पूर्व-वासनया—पूर्व अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप; मिथः—परस्पर; उद्धृति—पुत्रों तथा पुत्रियों के विवाह के कारण बंध जाते हैं; अथ—तत्पश्चात्; अपवहति—सम्बन्ध-विच्छेद कर देते हैं, अथवा तलाक दे देते हैं।

अपनी इच्छाओं की बारम्बार पूर्ति के लिए मनुष्य परस्पर शत्रु होने पर भी कभी-कभी विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। दुर्भाग्यवश ये विवाह दीर्घकाल तक नहीं चल पाते और ऐसे लोग तलाक या अन्य कारणों से पुनः विलग हो जाते हैं।

तात्पर्य : जैसा पहले कहा जा चुका है प्रत्येक बद्धजीव में छलने की प्रवृत्ति होती है, यहाँ तक कि विवाह सम्बन्धों में भी। इस भौतिक जगत में सर्वत्र ही एक बद्धजीव दूसरे से ईर्ष्या करता है। मनुष्य कुछ काल तक भले ही परस्पर मित्र बने रहें, किन्तु अन्ततः वे शत्रु बन जाते हैं और धन के लिए लड़ते हैं। कभी-कभी वे विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, किन्तु बाद में तलाक या अन्य साधनों से विलग हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसा ऐक्य कभी स्थायी नहीं रहता। छलने की प्रवृत्ति के कारण दोनों पक्ष सदैव ईर्ष्यालु बने रहते हैं। यहाँ तक कि कृष्णभावनामृत में भी भौतिक प्रवृत्तियों की प्रधानता के कारण पृथक्त्व और शत्रुता उत्पन्न हो जाती है।

एतस्मिन्संसारध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र यस्तमु ह वावेतरस्तत्र विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन्बिभ्यद्विवदन्क्रन्दन्संहृष्यन्गायन्नह्यमानः साधुवर्जितो नैवावर्ततेऽद्यापि यत आरब्ध एष नरलोकसार्थो यमध्वनः पारमुपदिशन्ति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एतस्मिन्—इस; संसार—दुखमय (संसार); अध्वनि—पथ पर; नाना—अनेक; क्लेश—कष्ट; उपसर्ग—भौतिक अस्तित्व की आपत्तियों द्वारा; बाधितः—क्षुब्ध; आपन्न—कभी-कभी प्राप्त करके; विपन्नः—कभी खोकर; यत्र—जिसमें; यः—कौन; तम्—उसको; उ ह वाव—अथवा; इतरः—अन्य कोई; तत्र—वहाँ; विसृज्य—छोड़ कर; जातम् जातम्—नवजात; उपादाय—

स्वीकार करके; शोचन्—शोक करते हुए; मुह्यन्—मोह ग्रस्त होकर; बिभ्यत्—डरते हुए; विवदन्—कभी-कभी तेज चीखते हुए; क्रन्दन्—कभी-कभी रोते हुए; संह्यन्—कभी-कभी प्रसन्न होते हुए; गायन्—गाते हुए; नह्यमानः—बाँधे जाकर; साधु-वर्जितः—सन्त पुरुषों से दूर रहकर; न—नहीं; एव—निश्चय ही; आवर्तते—प्राप्त करता है; अद्य अपि—अब भी; यतः—जिससे; आरब्धः—आरम्भ किया हुआ; एषः—इस; नर-लोक—भौतिक जगत का; स-अर्थः—आत्मकेन्द्रित (स्वार्थी) जीवात्माएँ; यम्—जिनको (श्रीभगवान्); अध्वनः—भौतिक अस्तित्व के पथ के; पारम्—उस पार; उपदिशन्ति—ज्ञानीजन इंगित करते हैं।

इस भौतिक जगत का मार्ग क्लेशमय है और बद्धजीव को अनेक कष्ट विचलित करते रहते हैं। कभी वह हारता है, तो कभी जीतता है। प्रत्येक दशा में यह मार्ग विघ्नों से परिपूर्ण है। कभी बद्धजीव अपने पिता से मृत्यु होने या अन्य कारणों से विलग हो जाता है। वह उसे छोड़कर क्रमशः अन्यो से, यथा अपनी सन्तान से आसक्त हो जाता है। इस प्रकार बद्धजीव कभी-कभी भ्रमित और कभी भयके मारे जोर जोर से चीत्कार करता है। कभी वह अपने परिवार का भरण करते हुए प्रसन्न होता है, तो कभी अत्यधिक प्रसन्न हो जाता है और सुरीले गीत गाता है। इस तरह वह अनन्त काल से श्रीभगवान् के विछोह को भूलकर अपने में बँधता जाता है। उसे भौतिक जगत के भयानक पथ पर चलना तो पड़ता है, किन्तु वह इस पथ पर तनिक भी सुखी नहीं होता। स्वरूप-सिद्ध मनुष्य इस भयानक पथ से छूटने के निमित्त श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करते हैं। भक्तिमार्ग को स्वीकार किये बिना भौतिक जगत के चंगुल से कोई नहीं निकल पाता। तात्पर्य यह है कि इस भौतिक जीवन में कोई भी प्रसन्न नहीं हो सकता है। उसे कृष्णाभावनामृत का आश्रय अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन-शैली का सम्यक् विश्लेषण करने पर कोई भी बुद्धिमान पुरुष समझ सकता है कि इस संसार में तनिक भी सुख नहीं है। किन्तु अनन्त काल से संकटपूर्ण मार्ग पर चलते रहने और सन्तानों से अपने को विलग रखने के कारण बद्धजीव मोहवश इस भौतिक जगत का आनन्द लेना चाहता है। कभी-कभी बहिरंगा शक्ति तथाकथित सुख का अवसर प्रदान करती है, किन्तु भौतिक प्रकृति बद्धजीव को निरन्तर प्रताड़ित करती रहती है। इसीलिए कहा गया है *दण्ड्यजने राजा येन नदीते चुबाय (चैतन्यचरितामृत मध्य २०.११८)*। भौतिकतावादी जीवन का अर्थ है सतत दुख, किन्तु जब दो अन्तरालों के बीच सुख प्रकट होता है, तो हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। कभी-कभी दोषी व्यक्ति को बार-बार पानी में डुबोया जाता है और फिर बाहर निकाला जाता है। वास्तव में यह सब दण्ड देने के उद्देश्य से किया जाता है, किन्तु जब उसे जल से बाहर निकाला जाता है, तो उसे कुछ

राहत का अनुभव होता है। बद्धजीव की ऐसी स्थिति है। अतः सभी शास्त्रों का उपदेश है कि भक्तों तथा साधुओं का सत्संग किया जाये।

‘साधुसंग’, ‘साधुसंग’—सर्वशास्त्रे कथ

लवमात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय

(चैतन्य चरितामृत, मध्य २२.५४)

भक्तों के लव-मात्र सत्संग से ही बद्धजीव इस दुखमय भौतिक जगत से उबर सकता है। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रत्येक व्यक्ति को सन्तजनों के साथ सत्संग का अवसर प्रदान करने का प्रयास करता है। इसलिए कृष्णभावनामृत समाज के सभी सदस्यों को पूर्ण साधु होना चाहिए जिससे पतित बद्धजीवों को अवसर मिल सके। यही सर्वश्रेष्ठ मानव-कल्याणकारी कार्य है।

यदिदं योगानुशासनं न वा एतदवरुन्धते यन्न्यस्तदण्डा मुनय उपशमशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति. ॥
३९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; इदम्—भगवान् का यह परम धाम; योग-अनुशासनम्—केवल भक्ति के द्वारा प्राप्तव्य; न—नहीं; वा—अथवा; एतत्—मुक्ति का यह पथ; अवरुन्धते—प्राप्त करते हैं; यत्—अतः; न्यस्त-दण्डा:—ऐसे पुरुष जिन्होंने दूसरों से ईर्ष्या करना छोड़ दिया है; मुनयः—मुनि अथवा सन्त जन; उपशम-शीला:—जो इस समय अत्यन्त शान्तिमय अस्तित्व को प्राप्त हैं; उपरत-आत्मानः—जिन्होंने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लिया है; समवगच्छन्ति—सरलता से प्राप्त करते हैं।

समस्त जीवात्माओं के मित्र मुनिजन संयतात्मा होते हैं। वे अपनी इन्द्रियों एवं मन को वश में कर चुके होते हैं और उन्हें मुक्तिपथ, जो श्रीभगवान् तक पहुँचने का मार्ग है, सरलतापूर्वक प्राप्त होता है। क्लेशमय भौतिक परिस्थितियों में संलग्न रहने तथा हतभाग्य होने के कारण भौतिकतावादी व्यक्ति मुनिजनों की संगति नहीं कर पाता।

तात्पर्य : महामुनि जड़भरत ने क्लेशमय दशा तथा उससे बचने के साधन—इन दोनों का वर्णन किया है। इससे बचने का एकमात्र उपाय है : भक्तों की संगति और यह संगति अत्यन्त सुगम है। यद्यपि भाग्यहीन व्यक्तियों को भी यह सुअवसर प्राप्त होता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वे शुद्ध भक्तों की शरण में नहीं जा पाते; अतः वे लगातार कष्ट भोगते रहते हैं। फिर भी यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक प्राणी “हरे कृष्ण महामंत्र” का जप करके इस पथ का अनुसरण करे। कृष्णभावनामृत के उपदेशक द्वार-द्वार जाकर लोगों को यह बताते हैं कि भौतिक जीवन के कष्टों

से किस प्रकार छुटकारा पाया जा सकता है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है— गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज—श्रीकृष्ण तथा गुरु महाराज की कृपा से ही भक्ति का बीज प्राप्त हो सकता है। तनिक भी बुद्धिमान होने पर कृष्णभावनामृत का अनुशीलन किया जा सकता है और इस प्रकार भौतिक जीवन के दुखों से छुटकारा पाया जा सकता है।

यदपि दिगिभजयिनो यच्चिनो ये वै राजर्षयः किं तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य स्वयमुपसंहताः. ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत् अपि—यद्यपि; दिक्-इभ-जयिनः—जो सभी दिशाओं में विजयी होते हैं, चक्रवर्ती, दिग्विजयी; यच्चिनः—बड़े-बड़े यज्ञों के करने में पटु; ये—जो सभी; वै—निस्सन्देह; राज-ऋषयः—अत्यन्त महान् सन्त राजा, राजर्षि; किम् तु—किन्तु; परम्—केवल यह पृथ्वी; मृधे—युद्ध में; शयीरन्—लेटे हुए; अस्याम्—इस (पृथ्वी) पर; एव—निश्चय ही; मम—मेरा; इयम्—यह; इति—उस प्रकार से विचार करने पर; कृत—जिस पर सृष्टि की जाती है; वैर-अनु-बन्धायाम्—अन्यों से शत्रुता का भाव; विसृज्य—त्याग कर; स्वयम्—अपना जीवन; उपसंहताः—मारे हुए।

साधु प्रकृति वाले ऐसे अनेक महान् राजर्षि हो चुके हैं, जो यज्ञ अनुष्ठान में अत्यन्त प्रवीण तथा अन्य राज्यों को जीतने में परम कुशल थे, किन्तु इतनी शक्ति होने पर भी भगवान् की प्रेमाभक्ति नहीं कर पाये, क्योंकि वे महान् राजा, “मैं देह-स्वरूप हूँ और यह मेरी सम्पत्ति है” इस मिथ्या बोध को भी नहीं जीत पाये थे। इस प्रकार उन्होंने प्रतिद्वन्द्वी राजाओं से केवल शत्रुता मोल ली, उनसे युद्ध किया और वे जीवन के वास्तविक लक्ष्य को पूरा किये बिना दिवंगत हो गए।

तात्पर्य : बद्धजीव का वास्तविक जीवन-उद्देश्य भगवान् के साथ विस्मृत सम्बन्ध की पुनर्स्थापना तथा भक्ति में संलग्न होना है, जिससे वह देहत्याग के पश्चात् कृष्णभावनामृत को पुनरुज्जीवित करने में समर्थ हो सके। मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्य किसी रूप में अपनी वृत्ति छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। किसी भी स्थिति में अपना नियत कर्तव्य करते हुए मात्र श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि-स्वरूप भक्तों के सत्संग से ही कृष्णभावनामृत का विकास सम्भव है, क्योंकि वे ही इस विज्ञान की शिक्षा दे सकते हैं। दुख की बात है कि बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ एवं नेता इस भौतिक जगत में केवल शत्रुता उत्पन्न करते हैं और उनकी रुचि आध्यात्मिक उन्नति की ओर नहीं होती है। सामान्य व्यक्ति के लिए भौतिक उन्नति अत्यन्त मोहक होती है, किन्तु अन्ततः उसे परास्त होना पड़ता है, क्योंकि वह

स्वयं को भौतिक देह और इससे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु को अपनी सम्पत्ति मान बैठता है। यही अविद्या है। वास्तव में उसका अपना कुछ भी नहीं होता, यहाँ तक कि यह देह भी नहीं। अपने कर्म के फलस्वरूप मनुष्य को कोई विशेष देह प्राप्त होती है। यदि वह इस देह का उपयोग भगवान् को प्रसन्न करने में नहीं करता तो उसके सारे कार्य निष्फल हो जाते हैं। जीवन के वास्तविक उद्देश्य का उल्लेख श्रीमद्भागवत (१.२.१३) में हुआ है—

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥

वस्तुतः इसका कोई महत्त्व नहीं है कि मनुष्य कौन-सा कार्य करता है। यदि वह श्रीभगवान् को केवल सन्तुष्ट कर सकता है, तो उसका जीवन सफल है।

कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कर्म-वल्लीम्—सकाम कर्मों की लता को; अवलम्ब्य—सहारा बनाकर; ततः—उससे; आपदः—घातक या क्लेशपूर्ण स्थिति; कथञ्चित्—किसी न किसी प्रकार से; नरकात्—जीवन की नारकीय दशा से; विमुक्तः—मुक्त होकर; पुनः अपि—फिर से; एवम्—इस प्रकार; संसार-अध्वनि—भौतिक जगत के मार्ग पर; वर्तमानः—वर्तमान, समुपस्थित; नर-लोक-स-अर्थम्—स्वार्थमय कर्मों का क्षेत्र; उपयाति—प्रवेश करता है; एवम्—इस प्रकार; उपरि—ऊपर (उच्चलोकों में); गतः अपि—(ऊपर) उठाये जाने पर भी ।

सकाम कर्म रूपी लता की शरण स्वीकार कर लेने पर बद्धजीव अपने पवित्र कार्यों के फलस्वरूप स्वर्गलोक को प्राप्त हो सकता है और इस तरह नारकीय स्थिति से तो उसे मुक्ति मिल सकती है, किन्तु वह दुर्भाग्यवश वहाँ रह नहीं पाता। अपने पवित्र कार्यों का फल भोगने के बाद उसे निम्न लोकों में लौटना पड़ता है। इस प्रकार वह निरन्तर ऊपर और नीचे आता-जाता रहता है।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्री चैतन्य महाप्रभु का कथन है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव ।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

(चैतन्यचरितामृत मध्य १९.१५१)

सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त लाखों वर्षों तक भ्रमण करते रहने पर भी किसी को भौतिक जगत के पथ से तब तक छुटकारा नहीं मिल पाता जब तक उसे किसी विशुद्ध भक्त के चरणारविन्द में शरण नहीं प्राप्त हो जाती। जिस प्रकार एक वानर वट वृक्ष की एक शाखा का आश्रय पाकर आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार यह बद्धजीव अपने जीवन के असली ध्येय को जाने बिना सकाम कर्म रूपी *कर्मकाण्ड* का आश्रय लेता है। कभी-कभी वह इन कार्यों के द्वारा स्वर्ग तक पहुँच जाता है, तो कभी वह फिर से पृथ्वी पर नीचे आ जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसका वर्णन *ब्रह्माण्ड भ्रमिते* कह कर किया है। किन्तु यदि श्रीकृष्ण की कृपा से कोई भाग्यवान जीव गुरु की शरण प्राप्त करता है, तो उसे श्रीभगवान् की भक्ति करने की विधि का पता चल जाता है। इस प्रकार वह इस भौतिक जगत के सतत संघर्ष से छूटने की युक्ति जान लेता है। इसलिए वेदों का यह आदेश है कि मनुष्य को गुरु महाराज की शरण में जाना चाहिए। वेदों की घोषणा है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्* (*मुंडकोपनिषद्* १.२.१२)। इसी प्रकार *भगवद्गीता* (४.३४) में श्रीभगवान् का उपदेश है—

तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

“सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम्, विनम्र जिज्ञासा और निष्कपट भाव से उनकी सेवा करके उस तत्त्व को जान। वे तत्त्व को जानने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष तेरे लिए ज्ञान का उपदेश करेंगे।”

श्रीमद्भागवत (११.३.२१) में इसी प्रकार का उपदेश है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

“सच्चा सुख प्राप्त करने के आकांक्षी व्यक्ति को चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु की खोज करे और दीक्षा के द्वारा उसकी शरण प्राप्त करे। उसके गुरु में यह विशिष्टता होनी चाहिए कि उसने धर्मग्रन्थों के सार को सावधानीपूर्वक अनुभव कर लिया हो और वह अन्य लोगों को भी इसकी प्रतीति करा सके। ऐसे महान् पुरुष, जिन्होंने समस्त भौतिक विचारों को त्याग कर श्रीभगवान् की शरण प्राप्त कर ली है, प्रामाणिक गुरु माने जाने चाहिए।” इसी प्रकार महान् वैष्णव श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का उपदेश

है—*यस्य प्रसादाद् भगवत् प्रसादः*—“गुरु की कृपा से श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त होती है।” श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी यही उपदेश दिया है (*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता बीज*)। यह आवश्यक है। मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्णभावनामृत तक आये और शुद्ध भक्त की शरण में जाये। इस प्रकार से भवबन्धन से छुटकारा पाया जा सकता है।

तस्येदमुपगायन्ति—

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः ।

नानुवर्त्माहति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—जड़भरत का; इदम्—यह यश-गान; उपगायन्ति—गाते हैं; आर्षभस्य—ऋषभदेव के पुत्र का; इह—यहाँ; राज-ऋषेः—महान् ऋषितुल्य राजा का; मनसा अपि—मन से भी; महा-आत्मनः—महात्मा जड़भरत का; न—नहीं; अनुवर्त्म अहति—पथ का अनुसरण करने में समर्थ; नृपः—राजा; मक्षिका—मक्खी; इव—सदृश; गरुत्मतः—श्रीभगवान् के वाहन, गरुड़ का।

जड़भरत के उपदेशों का सार सुना चुकने के पश्चात् श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—प्रिय राजा परीक्षित, जड़भरत द्वारा निर्दिष्ट पथ श्रीभगवान् के वाहन गरुड़ द्वारा अनुगमन किये गये पथ के तुल्य है और सामान्य राजागण मक्खियों के समान हैं। मक्खियाँ गरुड़ के पथ पर नहीं जा सकतीं। आज तक बड़े-बड़े राजाओं तथा विजयी नेताओं में से किसी ने भी भक्ति-पथ का अनुसरण नहीं किया मानसिक रूप से भी नहीं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.३) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

“सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक संसिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और उन सिद्धि प्राप्त करने वालों में से कोई विरला मनुष्य ही मुझे तत्त्वतः जान पाता है।” भक्ति का मार्ग अनेक शत्रुओं पर विजय पाने वाले राजाओं के लिए भी अत्यन्त कठिन है। भले ही ये राजा युद्धभूमि में विजयी रहे हों, किन्तु वे देहात्मबुद्धि पर विजय प्राप्त नहीं कर सके। ऐसे अनेक नेता, स्वामी, योगी तथा नामधारी अवतारी पुरुष हैं, जो बौद्धिक चिन्तन में लगे रहते हैं और अपने को पूर्ण पुरुष के रूप में विज्ञापित करते रहते हैं, किन्तु अन्ततः वे सफल नहीं होते। निस्सन्देह, भक्ति मार्ग का अनुगमन अत्यन्त कठिन है, किन्तु यदि कोई महाजनों के पथ का अनुसरण करना चाहता है, तो वह अत्यन्त सरल हो जाता है।

इस युग में श्री चैतन्य महाप्रभु का पथ उपलब्ध है, जिनका आविर्भाव पतित आत्माओं के उद्धार के लिए हुआ। यह पथ इतना सरल एवं सुगम है कि कोई भी श्रीभगवान् का नाम-जप करके इसे ग्रहण कर सकता है—

हरेनाम हरेनाम हरेनामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

हमें सन्तोष है कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा इस पथ का उद्घाटन किया जा रहा है, क्योंकि अनेक योरोपीय तथा अमरीकी युवा तथा युवतियाँ इस दर्शन को गम्भीरता से ग्रहण करके क्रमशः पूर्णता प्राप्त कर रहे हैं।

यो दुस्त्यजान्दारसुतान्सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।

जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यः—वही जड़भरत जो पहले महाराज ऋषभदेव के पुत्र महाराज भरत थे; दुस्त्यजान्—त्याग पाना अत्यन्त कठिन होता है; दार-सुतान्—पत्नी तथा सन्तान अथवा अत्यन्त वैभवपूर्ण गृहस्थ जीवन को; सुहृत्—मित्र तथा शुभ चिन्तक; राज्यम्—विश्वव्यापी साम्राज्य; हृदि-स्पृशः—अन्तरतम में स्थित; जहौ—परित्याग कर दिया; युवा एव—तरुण होते हुए; मल-वत्—विष्टा के सदृश; उत्तम-श्लोक-लालसः—उत्तमश्लोक श्रीभगवान् की सेवा करने के लिए लालायित।

महाराज भरत ने अपनी युवावस्था में ही सब कुछ परित्याग कर दिया, क्योंकि वे उत्तमश्लोक श्रीभगवान् की सेवा करना चाहते थे। उन्होंने अपनी सुन्दर पत्नी, उत्तम सन्तान, प्रिय मित्र तथा अपने विशाल साम्राज्य का परित्याग कर दिया। यद्यपि इन वस्तुओं का त्याग कर पाना अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु जड़भरत इतने उच्चस्थ थे कि उन्होंने इनको उस तरह से त्याग दिया जैसे मल त्याग के पश्चात् विष्टा को त्याग दिया जाता है।

तात्पर्य : ईश्वर का नाम कृष्ण है, क्योंकि वे इतने आकर्षक हैं कि उनके लिए शुद्ध भक्त इस भौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु का परित्याग कर सकता है। महाराज भरत एक आदर्श राजा, उपदेशक तथा चक्रवर्ती सम्राट थे। उनके पास समस्त सांसारिक वैभव था, किन्तु कृष्ण इतने आकर्षक हैं कि उन्होंने महाराज भरत से उनका भौतिक ऐश्वर्य त्याग करवा कर अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। तो भी न जाने किस प्रकार जड़भरत एक मृग के प्रति वत्सल हो उठे और अगले जन्म में उन्हें पदच्युत होकर मृग देह धारण करना पड़ा। किन्तु उन पर श्रीकृष्ण की महती कृपा थी, जिसके कारण वे अपने पद को

विस्मृत नहीं कर पाये और यह समझते रहे कि किस कारण उनका पतन हुआ है। फलतः अगले जन्म में अपनी शक्ति का अपव्यय न करने के लिए महाराज भरत जड़भरत अपने को एक बहरे तथा गूँगे व्यक्ति के रूप में दिखाते रहे। इस प्रकार से वे अपने मनको अपनी भक्ति में केन्द्रित कर सके। हमें महान् राजा भरत से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि कृष्णभावनामृत अनुशीलन करने में किस प्रकार सतर्क रहा जाये। इस समय थोड़ी सी लापरवाही करने से हमारी भक्ति में बाधा पड़ सकती है। किन्तु भगवान् को समर्पित सेवा नष्ट नहीं होती—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्* (गीता २.४०)। श्रद्धापूर्वक समर्पित किञ्चित् भक्ति शाश्वत धन है। *श्रीमद्भागवत* (१.५.१७) में उल्लेख है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-

र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

यदि किसी तरह कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट हो जाता है, तो भक्ति में वह जो कुछ भी करता है, वह शाश्वत सम्पत्ति होती है। यदि अपरिपक्वता अथवा कुःसंग के कारण वह पतित होता भी है, तो उसकी भक्ति-सम्पदा नष्ट नहीं होती। इसके अनेक उदाहरण हैं, यथा अजामिल, महाराज भरत तथा अनेक अन्य। यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रत्येक व्यक्ति को भक्ति में तत्पर होने का अवसर प्रदान करता है, भले ही वह अल्प समय के लिए क्यों न हो। इस प्रकार थोड़ी सी सेवा से आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, जिससे जीवन को सफल बनाया जा सकता है।

इस श्लोक में श्रीभगवान् को उत्तमश्लोक कहा गया है। उत्तम का अर्थ है “सर्वश्रेष्ठ” तथा श्लोक का अर्थ है “यश, ख्याति।” श्रीकृष्ण छः प्रकार के ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं, जिनमें यश भी एक है। *ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।* श्रीकृष्ण के यश का अब भी विस्तार हो रहा है। हम इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे बढ़ाकर श्रीकृष्ण की कीर्ति को फैला रहे हैं। कुरुक्षेत्र युद्ध के पाँच सहस्र वर्ष बाद भी श्रीकृष्ण का यश विश्वभर में फैल रहा है। विश्व के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ने कृष्णभावनामृत आन्दोलन के कारण इस समय तक श्रीकृष्ण का नाम अवश्य सुना होगा। ऐसे व्यक्ति जो हमें पसंद नहीं करते और इस आन्दोलन को दबा देना चाहते हैं, वे भी किसी न किसी रूप में

“हरे कृष्ण” का जप कर रहे हैं। उनका कहना कि हरे कृष्ण अनुयायियों को प्रताड़ित करना चाहिए। ऐसे मूर्ख इस आन्दोलन के वास्तविक महत्त्व को नहीं पहचानते। इसकी आलोचना करने की इच्छा मात्र से उन्हें हरे कृष्ण उच्चारण करने का अवसर प्राप्त होता है और यही इस आन्दोलन की विजय है।

यो दुस्त्यजान्क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्
 प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
 नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-
 सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; दुस्त्यजान्—जिनका परित्याग कर पाना अत्यन्त कठिन है, दुस्त्यज; क्षिति—पृथ्वी; सुत—सन्तति, पुत्रादि; स्व-जन-
 अर्थ-दारान्—कुटुम्बी, धन तथा सुन्दर पत्नी को; प्रार्थ्याम्—लालायित; श्रियम्—लक्ष्मी को; सुर-वरैः—श्रेष्ठ देवताओं द्वारा;
 स-दय-अवलोकाम्—जिसकी दयादृष्टि; न—नहीं; ऐच्छत्—इच्छा की; नृपः—राजा ने; तत्-उचितम्—यह उनके लिए उचित है
 (था); महताम्—महात्माओं या महानुभावों का; मधु-द्विट्—मधु नामक असुर को मारने वाले, श्रीकृष्ण, मधुसूदन; सेवा-
 अनुरक्त—सेवा में अनुरक्त; मनसाम्—जिन मनस्वियों का; अभवः अपि—मोक्ष पद भी; फल्गुः—तुच्छ।

श्रीशुकदेव गोस्वामी आगे कहते हैं—हे राजन्, भरत महाराज के कार्य आश्चर्यजनक हैं। उन्होंने अपनी प्रत्येक वस्तु का परित्याग कर दिया जो अन्यो के लिए दुष्कर है। उन्होंने अपना साम्राज्य, पत्नी तथा परिवार त्याग दिया। उनका वैभव इतना प्रभूत था कि देवताओं को भी ईर्ष्या होती थी, किन्तु उसका भी उन्होंने परित्याग कर दिया। उनके समान महान् पुरुष के लिए महान् भक्त होना सर्वथा उपयुक्त था। वे प्रत्येक वस्तु का इसलिए परित्याग कर सके, क्योंकि वे भगवान् श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, ऐश्वर्य, यश, ज्ञान, शक्ति तथा त्याग के प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे। कृष्ण इतने आकर्षक हैं कि उनके लिए समस्त इष्ट वस्तुओं का परित्याग किया जा सकता है। जिनके चित्त भगवान् की सेवा के प्रति आकृष्ट हैं, वे मुक्ति को भी तुच्छ मानते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से श्रीकृष्ण की सर्व-आकर्षकता की पुष्टि होती है। महाराज भरत श्रीकृष्ण के प्रति इतने आकर्षित थे कि उन्होंने अपना समस्त सांसारिक वैभव त्याग दिया, जबकि सामान्य भौतिकतावादी (संसारी) मनुष्य ऐसे वैभव के द्वारा आकर्षित होते हैं।

अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्

जनस्य मोहोऽयमहं ममेति ।

(भागवत ५.५.८)

“हर प्राणी अपनी देह, घर, सम्पत्ति, सन्तान, सम्बन्धीजन तथा ऐश्वर्य के प्रति अनुरक्त होता है। इस प्रकार जीवन के प्रति मोह बढ़ता जाता है और वह “यह मैं हूँ और यह मेरा है” के रूप में सोचता है।” भौतिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण मोहजनित है। भौतिक वस्तुओं के प्रति आकर्षित होने में कोई लाभ नहीं, क्योंकि इनसे बद्धजीव इधर-उधर भटकता है। उसी का जीवन सफल है जो श्रीकृष्ण की शक्ति, सुन्दरता एवं लीलाओं से आकर्षित होकर उन्हीं में मग्न हो जाता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कन्ध में उल्लेख है। मायावादी श्रीभगवान् के साथ तदाकार होना चाहते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तदाकार होने की इच्छा से कहीं अधिक आकर्षक हैं। *अभवः* शब्द का अर्थ है इस भौतिक जगत में पुनः जन्म न लेना। भक्त को इसकी परवाह नहीं रहती कि उसका पुनर्जन्म होगा या नहीं। वह प्रत्येक दशा में श्रीभगवान् की सेवा मात्र से सन्तुष्ट रहता है। यही वास्तविक मुक्ति है।

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

“जो मनसा वाचा कर्मणा श्रीकृष्ण की सेवा करता है, वह इस भौतिक संसार में रह कर भी जीवन्मुक्त है।” (*भक्तिरसामृतसिन्धु* १.२.१८७)। जो व्यक्ति श्रीकृष्ण की निरन्तर सेवा का इच्छुक है, वह अन्य व्यक्तियों को यह विश्वास दिलाने में रुचि रखता है कि भगवान् हैं और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। यही उसकी अभिलाषा है। उसे इसकी परवाह नहीं कि वह स्वर्ग में है या नर्क में। यही *उत्तमश्लोक लालसा* कहलाती है।

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय

योगाय साङ्ख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।

नारायणाय हरये नम इत्युदारं

हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यज्ञाय—समस्त यज्ञों का फल भोगने वाले श्रीभगवान् को; धर्म-पतये—धार्मिक विधानों के स्वामी को; विधि-नैपुणाय—उसे जो निपुणता से विधि-विधान पालन करने के लिए भक्तों को ज्ञान प्रदान करता है; योगाय—साक्षात् योग को; साङ्ख्य-शिरसे—सांख्य दर्शन का उपदेश देने वाले; प्रकृति-ईश्वराय—ब्रह्माण्डके परम नियन्ता को; नारायणाय—असंख्य जीवात्माओं के आश्रय (नर, जीवात्माएँ तथा अयन, आश्रय, शरण) को; हरये—हरि स्वरूप श्रीभगवान् को; नमः—सादर नमस्कार; इति—इस प्रकार; उदारम्—उच्च स्वर से; हास्यन्—हँसते हुए; मृगत्वम् अपि—मृग की देह धारण किये रहने पर भी; यः—जो; समुदाजहार—जप करता रहा।

मृग देह धारण करने पर भी महाराज भरत ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को विस्मृत नहीं

किया; अतः जब वे मृग देह छोड़ने लगे तो उच्च स्वर से इस प्रकार प्रार्थना की, “पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् साक्षात् यज्ञ पुरुष हैं। वे अनुष्ठानों का फल देने वाले हैं। वे धर्म रक्षक, योगस्वरूप, सर्वज्ञानस्रोत (सांख्य के प्रतिपाद्य), सम्पूर्ण सृष्टि के नियामक तथा प्रत्येक जीवात्मा में स्थित परमात्मा हैं। वे सुन्दर तथा आकर्षक हैं। मैं उनको नमस्कार करके यह देह त्याग रहा हूँ और आशा करता हूँ कि उनकी दिव्य सेवा में अहर्निश संलग्न रहूँगा।” यह कह कर महाराज भरत ने अपना शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : सारे वेद कर्म, ज्ञान तथा योग को—सकाम कर्म, मनोधर्मी ज्ञान तथा योग भली- भाँति समझने के लिए हैं। हम आत्मानुभूति के चाहे जिस स्वरूप को स्वीकार करें हमारा परम लक्ष्य तो श्रीभगवान् रहते हैं, जो नारायण हैं। सभी जीवात्माएँ भक्ति के द्वारा उनसे नित्य जुड़ी हुई हैं। जैसाकि श्रीमद्भागवत में कहा गया है—*अन्ते नारायणस्मृतिः*—मृत्यु के समय नारायण का स्मरण ही जीवन की सिद्धि है। यद्यपि महाराज भरत को मृग-देह स्वीकार करनी पड़ी, किन्तु वे मृत्यु के समय नारायण का स्मरण कर सके। फलस्वरूप उनका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में पूर्ण भक्त के रूप में हुआ। इससे भगवद्गीता (६.४१) के इस कथन—*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते*—“जो आत्म-साक्षात्कार के पथ से नीचे आ जाता है, वह ब्राह्मणों अथवा सदाचारी धनवानों के घर में जन्म लेता है” की पुष्टि होती है। यद्यपि महाराज भरत का जन्म राज-कुल में हुआ था, किन्तु असावधान रहने के कारण उन्हें मृग-रूप में जन्म लेना पड़ा। किन्तु मृग देह धारण करने पर वे अत्यन्त सचेष्ट रहे जिससे उनका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में जड़भरत के रूप में हुआ। इस जन्म में वे आजीवन कृष्णभक्त रहे और प्रत्यक्ष रूप से श्रीकृष्ण भक्ति के सन्देश का पहला उपदेश महाराज रहूगण से प्रारम्भ किया। इस प्रसंग में *योगाय* शब्द अत्यन्त सार्थक है। जैसाकि श्रील मध्वाचार्य ने बताया है, *अष्टांग योग* का प्रयोजन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ अपने को जोड़ना है। इसका लक्ष्य भौतिक सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं है।

य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यापवर्ग्यं वानुश्रुणोत्याख्यास्यत्यभिनन्दति च सर्वा एवाशिष आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति. ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; इदम्—इस; भागवत—सामान्य भक्तों के द्वारा; सभाजित—अत्यधिक पूजित; अवदात—शुद्ध; गुण—जिसके गुण; कर्मणः—तथा कर्म; राज-ऋषेः—राजर्षि; भरतस्य—भरत महाराज का; अनुचरितम्—चरित्र, कथा को; स्वस्ति-अयनम्—कल्याण का धाम; आयुष्यम्—जीवन-अवधि (आयु) को बढ़ाने वाला; धन्यम्—धन को बढ़ाने वाला; यशस्यम्—यश प्रदान करने वाला; स्वर्ग—स्वर्ग लोक की प्राप्ति कराने वाला (जो कर्मियों का लक्ष्य है); अपवर्ग्यम्—इस भौतिक जगत से मुक्ति प्रदान करके ईश्वर में तदाकार होने में सहायक (जो ज्ञानियों का लक्ष्य है); वा—अथवा; अनुश्रुणोति—भक्तिमार्ग का अनुसरण करते हुए सदैव सुनता है; आख्यास्यति—परोपकारार्थ वर्णन करता है; अभिनन्दति—भक्तों तथा भगवान् के गुणों का गान करता है; च—तथा; सर्वाः—समस्त; एव—निश्चय ही; आशिषः—आशीर्वाद; आत्मनः—स्वयं के लिए; आशास्ते—प्राप्त करता है; न—नहीं; काञ्चन—कुछ भी; परतः—अन्य किसी से; इति—इस प्रकार।

श्रवण तथा कीर्तन के अनुरागी भक्त नियमित रूप से भरत महाराज के गुणों की विवेचना तथा उनके कर्मों की प्रशंसा करते हैं। यदि कोई विनीत भाव से सर्व कल्याणमय महाराज भरत के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करता है, तो उसकी आयु तथा सांसारिक वैभव में वृद्धि होती है। वह अत्यन्त प्रसिद्ध हो सकता है और सरलता से स्वर्ग अथवा श्रीभगवान् में एकाकार होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। महाराज भरत के कर्मों के श्रवण, कीर्तन तथा स्तवन मात्र से मनोवांछित फल मिलता है। इस प्रकार मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति होती है। इन वस्तुओं के लिए और किसी से माँगने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि महाराज भरत के जीवन के अध्ययन मात्र से सभी वांछित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं।

तात्पर्य : इस चौदहवें अध्याय में “ भवाटवी ” का सारांश दिया गया है। भवाटवी शब्द का अर्थ है भौतिक जगत का पथ। वणिक् वह प्राणी है जो इन्द्रियतृप्ति के लिए धन-उपार्जन के प्रयत्न में भौतिक जगत रूपी जंगल में आता है। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा तथा मन ये छह इन्द्रियाँ छह लुटेरे हैं। अपवर्तित ज्ञान अधम नेता है। ज्ञान तो कृष्णभक्ति के निमित्त है, किन्तु भौतिक जगत के कारण हम अपना सारा ज्ञान भौतिक सुविधाएँ जुटाने में लगा देते हैं। प्रत्येक वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण की है, किन्तु मन तथा इन्द्रियों के भ्रष्ट हो जाने से हम श्रीभगवान् की सम्पत्ति को लूट-लूट कर अपनी इन्द्रियों को तृप्त करते रहते हैं। जंगल के शृगाल तथा बाघ हमारे कुटुम्बीजन हैं और झाड़ियाँ तथा लताएँ हमारी भौतिक वासनाएँ हैं। गिरिगह्वर हमारा सुखमय आवास और सर्प तथा मच्छर हमारे शत्रु हैं। चूहे, जंगली पशु तथा गृद्ध विभिन्न प्रकार के चोर हैं, जो हमारे धन का अपहरण करते रहते हैं। हमारी देह तथा घर का मायाजाल “ गन्धर्वपुर ” है। स्वर्ण तथा उसकी चमक मायाजाल है। भौतिक आवास तथा सम्पत्ति हमारे भौतिक सुख के घटक हैं। स्त्री के लिए (प्रमद) आकर्षण ही बवण्डर और विषय-सुख ही अंधड़ है। देवता विभिन्न दिशाओं के नियामक हैं तथा हमारी अनुपस्थिति में शत्रु द्वारा उच्चरित कर्कश

शब्द ही मानों झींगुर हैं। हमारे मुँह पर बुराई करने वाला व्यक्ति उलूक है तथा अशुभ वृक्ष अशुभ लोग हैं। जलहीन नदी उन नास्तिकों की प्रतिनिधि है जो हमें इस लोक तथा परलोक में कष्ट देते हैं। मांसाहारी असुर राज्यकर्मचारी हैं और चुभने वाले काँटे भौतिक जीवन के बाधातुल्य हैं। व्यभिचार का अनुभूत स्वाद परस्त्री सम्भोग की लालसा है। मक्खियाँ स्त्रियों के संरक्षक हैं, जैसे पति, श्वसुर, सास इत्यादि। लता सामान्यतः प्रमदास्वरूप है। सिंह कालचक्र हैं। बगुले, कौवे तथा गिद्ध नामधारी देवता, छद्म स्वामी, योगी तथा अवतारी हैं। ये किसी को राहत दिलाने में असमर्थ हैं। हंस विशुद्ध ब्राह्मण हैं एवं वानर उन असंयत शूद्रों के तुल्य हैं, जो खाने, सोने, मैथुन तथा आत्मरक्षा में व्यस्त रहते हैं। हमारे घर वानरों के रहने वाले वृक्षों के तुल्य हैं तथा हाथी परम मृत्यु है। इस प्रकार इस अध्याय में भौतिक जगत के सभी घटकों का वर्णन मिलता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत “भवाटवी का वर्णन” नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।